आधुनिक लोकतंत्र

कार्ल एल० बेकर

अनुवादक
ओम प्रकाश दीपक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली

Title of the original · MODERN DEMOCRACY
Author : Carl L. Becker
Original Publisher : Yale University Press,
New Haven

मूल्य तीन रुपये
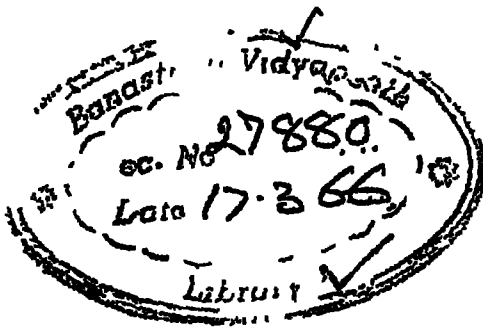
मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

विचार से ही मनुष्य की पूर्ण गरिमा निर्मित होती है। अतः भली-भाँति विचार करने की चेष्टा करें, यही एकमात्र नैतिकता है।

पास्कल

आमुख

इस छोटी-सी पुस्तक मे तीन भाषण सगृहीत है, जो १२-१४ नवम्बर १६४० को पेज-बार्बर फाउण्डेशन के लिए वर्जिनिया विश्वविद्यालय मे दिए गए थे। कुछ शाब्दिक परिवर्तनो को छोडकर, उन्हे ज्यो का त्यो ही छापा गया है। स्वय अपने ही लेखन से चोरी करना श्लाघनीय नही होता किन्तु कुछ स्थानो पर मैंने ऐसे अशो का उपयोग किया है जो पहले अन्यत्र प्रकाशित हो चुके है। एकमात्र सचमुच खेदजनक स्थान, अर्थात् एकमात्र ऐसा अश जो केवल कुछ वाक्यो तक ही सीमित नही है, पृष्ठ १८-२३ पर है—"आफ्टर थाट्स आन कान्सटीट्यूशन्स" से लिये गए पाँच पैराग्राफ, जो सर्वप्रथम येल रिव्यू, अक XXVII, ४५५ मे प्रकाशित हुए थे।

मै प्रसन्नतापूर्वक विश्वविद्यालय के अध्यक्ष श्री न्यूकाम्ब और सकाय के सदस्यो के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, कि मेरी निजी सुविधाओ का इतनी सहृदयता और सावधानी से ध्यान रखा गया जिस से कि विश्वविद्यालय की मेरी अल्प अवधि की यात्रा मुझे हमेशा याद रहेगी।

इथाका, न्यूयार्क
नवम्बर, १६४०

कार्ल बेकर

क्रम

एक

आदर्श

प्राकृतिक नियम तथ्यों की नियमित और स्थायी व्यवस्था है, जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टि का शासन करता है। यह व्यवस्था ईश्वर मनुष्यों की बुद्धि और संवेदन के समक्ष प्रस्तुत करता है जिससे वह आचरण के समान और सामान्य नियम के रूप में उनके लिए उपयोगी हो, और बिना जाति या पंथ के भेद-भाव के सुख और संपूर्णता की दिशा में उनका मार्ग-दर्शन करे।

वाल्नी

१

किसी विश्वविद्यालय मे एक भाषण करने का निमंत्रण पाने पर उचित विषय का चुनाव करना मेरे लिए वहुधा कठिन होता है। किन्तु वर्जीनिया विश्वविद्यालय मे पेज-वार्बर भाषण देने के निमंत्रण से मेरे सामने ऐसी कोई कठिनाई नही आई—निमंत्रण ने स्वयं, जैसे अपने-आप ही, मेरे समक्ष उपयुक्त विषय सुविधापूर्वक प्रस्तुत कर दिया। कारण, कि वर्जीनिया विश्वविद्यालय का ख्याल आते ही उसके प्रसिद्ध सस्थापक का नाम सामने आ जाता है। और मुझे लगा कि इस अवसर पर किसी इतिहासकार के लिए ऐसा कोई विषय सबसे अधिक उपयुक्त होगा, जिसका थामस जेफरसन के विचारों और कार्यों से कुछ सम्बन्ध हो।

तब भी, यह ठीक है कि चुनाव करने के लिए मेरे सामने काफी वडा क्षेत्र था। जेफरसन ने कितने ही विचार प्रस्तुत किए, कितने ही कार्यकलापों में भाग लिया। वस्तुत· मानवीय रुचि के क्षेत्र मे ऐसा शायद ही कुछ होगा जिससे उनकी व्यापक और जिज्ञासु बुद्धि अपरिचित रही हो। फिर भी उनका नाम एक विशेष सामान्य विचार के साथ, एक विशिष्ट आदर्श के साथ जुडा हुआ है। अपनी समाधि के लिए स्मृति-वाक्य चुनते हुए जेफरसन ने स्वयं ही अपनी सारी विशिष्ट उपलब्धियो मे से केवल तीन को चुना ताकि उन्ही के लिए उनको विशेष रूप मे याद किया जाए। *यहां अमरीकी स्वतन्त्रता के घोषणापत्र तथा वर्जीनिया के धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी कानून के*

प्रणेता और वर्जीनिया विश्वविद्यालय के संस्थापक थामस जेफ़रसन को दफ़न किया गया। सम्मिलित रूप में, और इनसे जुड़ी हुई बातों सहित, यही चीजें है जिनके लिए लोग उन्हें याद करते है—अर्थात्, उनके बारे में सोचने पर मानव और मानव-जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण, जो सामाजिक दर्शन हमेशा दिमाग में आता है, ये तीनों चीजें आसानी से उनका प्रतीक मानी जा सकती हैं। उनके सामाजिक दर्शन को सर्वोत्तम रीति से व्यक्त करने वाला शब्द है—लोकतंत्र। अतः मुझे विश्वास है कि यहाँ, शिक्षा के इस प्रसिद्ध केन्द्र में अगर मै लोकतंत्र के बारे में कुछ कहूं, अगर यह किसी प्रकार संभव हो और कुछ प्रासंगिक बाते कहूं, तो आप इसे अनुपयुक्त नहीं समझेंगे—ऐसा विषय जिसमें जेफरसन की बड़ी गहरी रुचि थी, और जो आज हम सबके.दिमाग में भी आग्रहपूर्वक विद्यमान है।

स्वतंत्रता या विज्ञान या प्रगति के समान 'लोकतंत्र' भी एक ऐसा शब्द है जिससे हम सब लोग इतने सुपरिचित है कि हम शायद ही कभी यह पूछने का कष्ट करते है कि इससे हमारा तात्पर्य क्या होता है। जैसा भाषाशास्त्र के विद्यार्थी कहते है, यह एक ऐसा शब्द है, जिसका कोई 'निर्देश्य' नही है—ठीक-ठीक या स्पष्ट कोई वस्तु नही है जिसका इस शब्द से बोध हो। इसके विपरीत, यह एक ऐसा शब्द है, जिसका अर्थ भिन्न-भिन्न लोगों के लिए भिन्न-भिन्न होता है। यह एक प्रकार का ऐसा वैचारिक थैला है जिसमे थोड़ा-बहुत इधर-उधर करके, आप सामाजिक तथ्यों का कोई भी मनचाहा समूह डालकर चल सकते हैं। इसमें आप शासन के अन्य किसी रूप के समान तानाशाही को भी आसानी से शामिल कर सकते है। लोकतंत्र के विचार को केवल

इतना फैलाने भर की देर है, कि इसमें शासन के ऐसे सभी रूप आ जाएं जिन्हे जनता के बहुमत का समर्थन प्राप्त हो, उसके कारण चाहे जो भी हो, और सहमति व्यक्त करने के साधन चाहे जो हो, और हमारे देखते-देखते नेपोलियन का साम्राज्य, स्टालिन का सोवियत शासन, और मुसोलिनी व हिटलर की फासिस्ट व्यवस्थाए, सभी हमारे थैले मे आ जाते है, लेकिन अगर लोकतंत्र से हमारा यही तात्पर्य है, तो फिर शासन के लगभग सभी रूप लोकतान्त्रिक होते है, क्योकि क्रातियो के समय को छोडकर, लगभग सभी शासन जनता के व्यक्त या निहित समर्थन पर टिके होते है। अतः वुद्धिपूर्वक लोकतत्र की चर्चा करने के लिए आवश्यक होगा कि हम उसकी परिभापा करें, इस हद तक उसे ठीक-ठीक अर्थ प्रदान करे कि वैसे संभ्रम से वच सके जो वहुधा ऐसी चर्चाओं का मुख्य परिणाम होता है।

हमसे कहा जाता है कि सव मानवीय संस्थाओं के आदर्श रूप तो स्वर्ग मे ही है, और किसीको यह वताने की जरूरत नही कि वास्तविक सस्थाएं केवल थोड़ा-वहुत ही इन आदर्शो के अनुरूप होती है। अत लोकतत्र की परिभाषा आदर्श और वास्तविक रूप दोनों के सन्दर्भ मे अलग-अलग की जा सकती है—इसे हम जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए शासन कह सकते है, अथवा हम कह सकते है कि यह जनता का शासन है, राजनीतिज्ञो द्वारा, और किन्ही भी ऐसे दवाव-समूहो के लिए, जो अपना स्वार्थ सिद्ध करने मे सफल हों। किन्तु इतिहासकार के रूप मे मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति ऐसे अर्थ को स्वीकार करने की है, जो राजनीति के इतिहास मे मनुष्यों ने सामान्यत इस शब्द से ग्रहण किया है—स्पष्टत, ऐसा

अर्थ जो आंशिक रूप में अनुभव से प्राप्त हुआ है, और आंशिक रूप में मनुष्य-जाति की आकांक्षाओं से। इस दृष्टि से 'लोकतंत्र' शब्द से मुख्यतः शासन के एक रूप का बोध होता है, और इसका अर्थ हमेशा किसी एक के शासन के विरुद्ध, बहुसंख्या द्वारा शासन रहा है—किसी अत्याचारी शासक, तानाशाह, या निरंकुश राजा द्वारा शासन नहीं, बल्कि जनता द्वारा शासन। मनुष्य सामान्यतः जैसा समझते रहे हैं, उस रूप में यह इस शब्द का सर्वाधिक सामान्य अर्थ है।

किन्तु इस स्थापना में कुछ निहितार्थ भी है जो हमेशा समझे जाते रहे है, और जो इस शब्द को अधिक सही अर्थ प्रदान करते है। उदाहरण के लिए, पीसिट्राटस को जनता के बहुमत का समर्थन प्राप्त था, लेकिन उसके शासन को कभी लोकतंत्र नही माना गया। सीजर को अपनी शक्ति प्रतिष्ठित गणतांत्रिक माध्यमों द्वारा व्यक्त जन-स्वीकृति से प्राप्त होती थी, फिर भी उसके शासन का स्वरूप तानाशाही का ही था। नेपोलियन अपने शासन को लोकतांत्रिक साम्राज्य कहता था, लेकिन किसीको भी इसमें सन्देह नही था, स्वयं नेपोलियन को तो बिल्कुल ही नही था, कि उसने लोकतांत्रिक गणराज्य के अंतिम अवशेष भी नष्ट कर दिए थे। यूनानियों द्वारा इस शब्द के सर्वप्रथम प्रयोग के बाद से ही, लोकतांत्रिक शासन की मूल कसौटी हमेशा यही रही है कि राजनैतिक सत्ता का स्रोत शासक में न होकर जनता में हो और रहे। लोकतात्रिक शासन का अर्थ हमेशा ऐसा शासन रहा है जिसमें नागरिक, या उनकी इतनी काफी सख्या कि वे न्यूनाधिक प्रभावकारी रीति से सामान्य संकल्प को व्यक्त कर सकें,

समय-समय पर स्वतंत्रतापूर्वक, और प्रतिष्ठित पद्धतियों के अनुसार शासकों को नियुक्त करने या हटाने के लिए, और जिन कानूनों के द्वारा समाज का शासन होता हो, उन्हें पारित करने या रद करने के लिए कार्य करें। मैं समझता हूं कि यही अर्थ है जो इतिहास ने एक शासन-पद्धति के रूप मे 'लोकतंत्र' शब्द को प्रदान किया है। अतः इन भाषणों मे मैं इस शब्द को इसी अर्थ में लूगा।

हमारे काल का सर्वाधिक स्पष्ट तथ्य यह है कि इस प्रकार परिभाषित लोकतंत्र की प्रतिष्ठा मे आश्चर्यजनक ह्रास हुआ है। पचास वर्ष पहले लोकतांत्रिक शासन को, और उसके साथ जुड़ी हुई स्वतन्त्रताओं को मानव-आत्मा की एक स्थायी विजय के रूप मे देखना असंभव नही था। १८८६ में ऐण्ड्रू कार्नेगी ने *विजयी लोकतंत्र* शीर्षक एक पुस्तक प्रकाशित की थी। बिना भय और बिना अध्ययन के लिखी गई यह पुस्तक शायद उच्चतम बौद्धिक श्रेष्ठता की उपलब्धि तो नही थी, किन्तु पुस्तक का शीर्षक कम से कम उस समय व्याप्त विश्वास को भली भाँति व्यक्त करता था—यह विश्वास कि लोकतंत्र ने भली भाँति संघर्ष किया था, निर्णायक युद्ध जीते थे, और वह अनिवार्यतः अपने अन्तर्निहित गुणो के द्वारा, विश्व से उन सर्वाधिक गभीर राजनैतिक और सामाजिक बुराइयों को शीघ्र ही दूर कर देगा, जो न जाने कब से मानव-जाति को पीडित किए थी। सयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा विश्वास रखना सबसे ज्यादा आसान था, जहाँ शासन के अन्य रूपो की परम्परा भी इतनी अजनबी और इतनी दूर की थी कि हमारे अपने आशावाद पर उसका कोई प्रभाव नही था। लेकिन यूरोप में भी लेकी जैसे गंभीर

शंकालुओं की दृष्टि विकृत समझी जाती थी, और जे० बी० बरी जैसा वस्तुनिष्ठ इतिहासकार भी विश्वासपूर्वक घोषणा कर सका कि विचार-स्वातंत्र्य के लम्बे संघर्ष मे अन्ततः विजय प्राप्त हो गई है।

आपको बताने की जरूरत नहीं कि उस समय व्याप्त आशावाद बीस वर्षो की अल्प अवधि में ही बिल्कुल समाप्त हो गया है। यूरोपीय देशों में एक के बाद एक ऐसा हुआ कि उनके यहाँ जो भी लोकतान्त्रिक संस्थाएँ पहले थी, उन्हें प्रकट रूप में बहुत कुछ स्वेच्छा से ही त्यागकर, तानाशाही का कोई रूप अपना लिया गया। फासिज्म और साम्यवाद के प्रवक्ता विश्वासपूर्वक घोषित करते हैं कि लोकतन्त्र का अन्त निश्चित है—वह एक भावुकतापूर्ण विकृति थी, जिससे अब दुनिया आगे बढ गई है। और लोकतंत्र के मित्रों के समर्थन के पीछे भी विश्वास की मात्रा घटती जाती है। वे कहते है कि लोकतंत्र न केवल अभी विजय से दूर है, वरन 'दोराहे पर' है या 'पीछे हट रहा' है, और उसका भविष्य किसी भी तरह निश्चित नही है। भाग्य और प्रतिष्ठा के अचानक इस तरह पलटा खाने से हम क्या समझें ? इसकी व्याख्या कैसे करें ? इसके बारे में क्या कहें ?

२

आधुनिक विचार की मौलिक मान्यताओं में से एक यह भी है कि किसी संस्था को समझने के लिए उसे उसके देश-काल की स्थिति के सन्दर्भ में देखना चाहिए। लोकतंत्र को इस प्रकार देखना हमारे लिए कुछ कठिन है। हम उसकी

वर्तमान गति-प्रगति में इस तरह डूबे हुए है कि सामान्यतः हम उसे निकट से ही देखते है, और अन्य ऐसी वस्तुओं को नही देख पाते, जो दरअसल उसके साथ जुड़ी है। अत उसकी प्रकृति और महत्त्व के सम्बन्ध में वस्तुपरक निर्णय कर पाने के लिए आवश्यक है कि हम उसे उचित परिप्रेक्ष्य में देखे। हम कल्पना करें कि हम अपनी वर्तमान स्थिति में नही है, वरन् किसी ऐसी ऊँची जगह है जहाँ से हम पाँच-छह हजार वर्षों के इतिहास को एक नजर मे देख सकते है, और तब हम देखे कि मानवी सभ्यता मे लोकतंत्र की भूमिका क्या रही है। इतिहास का यह दृश्य उन लोगों के लिए निराशाजनक होगा, जो लोकतान्त्रिक सस्थाओ को सनातन समझने के अभ्यस्त है। हमें तत्काल दिखाई देता है कि सारी दुनिया में, जहाँ भी मनुष्यों का निवास रहा है, इस सारी लम्बी अवधि मे मनुष्य-जाति की बहुसंख्या हमारी प्रिय संस्थाओ से अपरिचित रही है, और ऐसा प्रतीत होता है कि उसे इनकी विशेष चिन्ता भी नही रही।

लोकतत्र उल्लेखनीय रूप में सबसे पहले यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्यों मे प्रकट हुआ, जहां वह एक या दो शताब्दी तक प्रखर रूप मे चमका, और फिर लुप्त हो गया। मनुष्य की सभ्यता उस समय भी पुरानी हो चुकी थी। लोकतत्र से मिलती-जुलती एक व्यवस्था का उदय लगभग इसी समय रोम और इटली के कुछ अन्य शहरों मे हुआ, किन्तु रोम गणराज्य द्वारा विश्व-विजय के पश्चात् रोम मे भी लोकतन्त्र केवल साम्राज्य के नगरों के स्थानीय प्रशासन की एक पद्धति के रूप मे शेष रह गया। बारहवी और तेरहवी शताब्दियो मे कुछ मध्ययुगीन नगरों की स्थिति अनुकूल थी,

और उन्हें किसी हद तक स्वशासन प्राप्त था, किन्तु अधिकांश मामलों में शीघ्र ही उसकी जगह सैनिक विजेताओं की ताना-शाही आ गई, या कुछ थोड़े-से परिवारों का अल्पतान्त्रिक नियंत्रण हो गया, अथवा निरंकुश राजाओं की फैलती हुई सत्ता ने उन्हें समेट लिया। आधुनिक युग का सबसे पुराना लोकतन्त्र स्विटजरलैण्ड का महासंघ है, और उसके बाद हालैण्ड का गणराज्य। इंगलिस्तान मे संसदीय शासन का आरम्भ सत्रहवी शताब्दी के अन्तिम भाग में हुआ, और महान अमरीकी प्रयोग भी लगभग उतना ही पुराना है। उन्नीसवी शताब्दी में आकर ही लोकतांत्रिक शासन की स्थापना दुनिया के काफी बड़े हिस्से मे हुई—यूरोपीय महाद्वीप के महान राज्य, दक्षिण अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और जापान।

इस संक्षिप्त सिंहावलोकन से स्पष्ट है कि मनुष्य-जाति के अनुभव को अगर कसौटी मानकर चलें, तो लोकतंत्र को अभी तक केवल सीमित और अस्थायी सफलता मिली है। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का कोई कारण अवश्य होगा। कारण यह है कि लोकतांत्रिक शासन एक प्रकार का सामाजिक विलास है; अधिक से अधिक, एक नाजुक और जोखिम भरी साहसिकता है, जिसकी सफलता इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य की क्षमताओ और गुणों के सम्बन्ध में कुछ मान्यताएँ कहाँ तक सच हैं, और इन क्षमताओं तथा गुणों के उपयोग के लिए अनुकूल भौतिक तथा बौद्धिक स्थितियाँ कहाँ तक उपलब्ध है। पहले हम भौतिक स्थितियों पर विचार करे।

यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि कुछ दिनों पहले तक लोकतंत्र जब भी कही पनपा तो केवल बहुत ही छोटे राज्यों

मे—अधिकांश तो नगरों में। यह सच है कि फारस और रोम दोनों के ही साम्राज्यो में स्थानीय बस्तियों को किसी हद तक स्वशासन प्राप्त था, लेकिन केवल पूर्णतः स्थानीय मामलो मे ही। किसी सम्पूर्ण, बड़े राज्य मे लोकतान्त्रिक शासन व्यावहारिक नही सिद्ध हुआ। इसका एक मूल कारण यह है कि कुछ दिनो पहले तक सचार के साधन इतने अविकसित और अनिश्चित थे कि हितों की आवश्यक एकता और जानकारी की आवश्यक समानता किसी बड़े क्षेत्र में निर्मित नही हो सकती थी। प्रतिनिधित्व का सिद्धात यूनानियो को भली भाँति ज्ञात था, किन्तु सीमित क्षेत्रों और विशेष अवसरों को छोड़कर, वह व्यावहारिक नही सिद्ध हुआ। अठारहवी शताब्दी तक भी सामान्य मत यही था कि शासन की गणतान्त्रिक पद्धति आदर्श रूप मे सर्वोत्तम होने पर भी बड़े देशो के लिए उपयुक्त नही थी, यहाँ तक कि फ्रास जितने क्षेत्रफल वाले देश के लिए भी नही। माण्टेस्क्यू का और रूसो का भी यही दृष्टिकोण था। उन्नीसवी शताब्दी मे भी यह दृष्टिकोण कायम रहा, और अग्रेज अनुदारवादी, जो इंगलिस्तान मे मताधिकार को व्यापक बनाने के विरुद्ध थे, यह उम्मीद करते थे कि अमरीकी गृह-युद्ध से इस दृष्टिकोण की पुष्टि होगी; उससे यह प्रदर्शित हो जाएगा कि जनता द्वारा और जनता के लिए शासन दुनिया मे नही चल सकता; अथवा, कम से कम, बड़े देशो मे नही चल सकता। अगर उनकी आशाएँ पूरी नही हुई तो इस कारण कि सचार के साधन किन्ही अर्थो मे बड़े देशो को छोटा बना रहे थे। यह एक पूर्णतः असभव कल्पना ही नही है कि रेलो और तार की व्यवस्था न होती, तो सयुक्त राज्य अमरीका आज कई छोटे-छोटे गणराज्यों में बटा हुआ होता,

और उनमे से हर एक अपने लाभ के लिए प्रयास करता हुआ, अस्थिर शक्ति-संतुलन को कायम रखने के लिए युद्ध और कूटनीति का उपयोग करता।

गतिशीलता या संचार-सुविधा अगर लोकतांत्रिक शासन की सफलता के लिए आवश्यक शर्तों में से एक है, तो किसी हद तक आर्थिक सुरक्षा की उपलब्धि दूसरी शर्त है। जो समाज विनाश के कगार पर खड़े होते है, उनमें लोकतंत्र नही पनपता। प्राचीन और मध्ययुगों मे लोकतत्र का उदय अधिकाश नगरों में ही हुआ, जो समृद्धि के केन्द्र थे। प्राचीन रोम गणराज्य में, और स्विट्जरलैण्ड के कैंटनों (क्षेत्रीय विभागों) मे किसान निश्चय ही धनी नहीं थे, लेकिन सम्पत्ति और अवसर की समानता उन्हें एक प्रकार की आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती थी। मध्ययुगीन नगरों मे राजनैतिक विशेषाधिकार केवल धनी व्यापारियों और शिल्पियों तक ही सीमित थे। एथेन्स मे, और आगे चलकर रोम गणराज्य मे भी, लोकतात्रिक शासन केवल उसी सूरत मे व्यावहारिक पाया गया कि गरीब नागरिकों को शासन द्वारा आर्थिक सहायता दी जाए अथवा सभाओं और न्यायालयों में उपस्थिति के लिए धन दिया जाए।

आधुनिक काल में, मोटे तौर पर, लोकतांत्रिक संस्थाओं को सबसे अधिक सफलता संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा और आस्ट्रेलिया जैसे नए देशों मे मिली है, जहाँ लोगों के लिए जीवन-निर्वाह आसान रहा है। यूरोपीय देशों में यह सफलता न्यूनाधिक उनकी आर्थिक समृद्धि के अनुपात में मिली है। वस्तुतः यूरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति के विकास और लोकतांत्रिक संस्थाओं के उदय के बीच निकट सम्बन्ध

रहा है। औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम हालैण्ड और इंगलिस्तान में हुई, और लोकतान्त्रिक संस्थाओं को भी सर्वप्रथम इन्ही देशों ने अपनाया (स्विट्जरलैण्ड को छोड़कर, जहाँ कुछ विशिष्ट परिस्थितियाँ थी)। औद्योगिक क्रान्ति के फ्रान्स, बेल्जियम, जर्मनी और इटली मे फैलने पर इन देशों ने भी, कम से कम एक अंश तक, लोकतान्त्रिक शासन को अपनाया। एक अर्थ मे, लोकतंत्र उन लोगो का विलास है जो आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है और ऐसा कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में यह उन नए देशों के विकास का एक पक्ष रहा है, जिनमे समृद्धि की संभावनाएं बहुत है, अथवा यह औद्योगिक क्रान्ति का एक पक्ष है, जिसने अचानक यूरोप को अभूतपूर्व समृद्धि प्रदान की। अब उस समृद्धि का हर जगह लोप हो रहा है, और इस कारण लोकतत्र उतने सुचारु रूप से काम नही कर रहा।

यह तो हुई लोकतांत्रिक शासन की सफलता के लिए आवश्यक भौतिक स्थितियो की बात। अगर हम मान ले कि ये स्थितिया मौजूद है, तो इनके अतिरिक्त, लोकतान्त्रिक शासन के लिए आवश्यक है कि उसके नागरिकों मे कुछ क्षमताएं और गुण भी हों। ये क्षमताएं और गुण उन मान्यताओं के साथ जुडे हुए है जिनपर लोकतंत्र आधारित है; और वही तक उपलब्ध है, जहाँ तक उक्त मान्यताए वैध है। लोकतान्त्रिक शासन की पहली मान्यता है कि उसके नागरिको मे अपना कार्य-संचालन स्वय करने की क्षमता है। किन्तु किसी भी समाज के जीवन में व्यष्टि और वर्गो के हितो का टकराव निहित होता है, और इसी प्रकार सामान्य हित के लिए अपनाए जाने वाले उपायो के सम्वन्ध मे मतभेद होता है। यह आवश्यक है कि विभिन्न मतो मे किसी प्रकार मेल बिठाया

जाए, विभिन्न हितों में किसी प्रकार समझौता हो। अतः लोकतांत्रिक शासन की एक मान्यता यह भी होगी कि उसके नागरिक बौद्धिक जीव है; कम से कम इतने काफी बौद्धिक है कि हितों के टकराव को समझ सकें। एक मान्यता यह भी होगी कि वे सद्भावनापूर्ण मनुष्य है; कम से कम उनमें इतनी काफी आपसी सद्भावना है कि व्यावहारिक समझौते करने के लिए वे व्यष्टि और वर्ग के हितों में आवश्यक रियायतें कर सकें। जैसे पैरिक्लीज ने एथेन्स के नागरिकों के बारे में कहा था—लोकतंत्र के नागरिकों के लिए आवश्यक है कि वे सारे के सारे सुनीति के प्रवर्त्तक न भी हों, तो कम से कम उसके सम्बन्ध में भली भांति निर्णय तो कर सकें।

ऐसा कहा जा सकता है कि कहीं भी और किसी भी समय लोकतांत्रिक शासन की ये न्यूनतम मान्यताएं और आवश्यक शर्तें है। इन्हें सर्वोत्तम रूप में किसी राज्य में नही, वरन् राज्य के अन्दर छोटे-छोटे समूहों में देखा जा सकता है—क्लब, और अन्य ऐसी ही निजी संस्थाओं मे जिनमें समान विचारों और प्रकृतियों वाले लोग किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए एकत्र होते है। ऐसी संस्थाओं में सदस्यता सीमित और चुनी हुई होती है। सभी सदस्य एक-दूसरे से परिचित होते हैं, अथवा आसानी से परिचित हो सकते है। क्या हो रहा है, और कौन क्या कर रहा है, इसे सब लोग जानते हैं, अथवा आसानी से मालूम कर सकते है। निस्सन्देह, मतभेद हो सकते है, और विघटनकारी झगड़े और साजिशे भी चल सकती है; लेकिन सब मिलकर, लक्ष्य और साधनों के विशिष्ट और सुविदित होने के कारण, शासन की समस्याए बहुत थोड़ी और हल्की होती है; बहस के लिए समय बहुत रहता है। और चूंकि

बुद्धि और सद्भावना आम तौर पर रहती ही है, अत उचित रियायते और समझौते करने की प्रवृत्ति भी रहती है। इस तुलना को एक हद से आगे नही ले जाना चाहिए। राज्य जर्मन दर्शन की रहस्यमय, अंधी देवमूर्तियाँ भले ही न हों, किन्तु कोई भी राज्य किसी निजी सस्था की तुलना में बहुत अधिक पेचीदा, और अमूर्त होता है, और आधुनिक काल के लोकतांत्रिक राज्यों तथा इन निजी संस्थाओ मे समानता बहुत कम होती है। अन्य बाते समान होने पर, बहुत छोटे राज्यों का रूप ही इन सस्थाओं के सर्वाधिक निकट होता है, और प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों के प्रसंग में यह निकटता सबसे अधिक दिखाई देती है।

बहुधा ऐसा समझा जाता है कि यूनानी राज्यों का आधार केवल या मुख्यत देश की भौगोलिक विशेषताओं के कारण सीमित था। किन्तु यह सच नही है। यूनानी मन मे कुछ ऐसी आन्तरिक भावना थी कि राज्य आवश्यक रूप मे ऐसे लोगों का एक स्वाभाविक संघ होता है जो रक्त-सम्बन्ध से और अधिकारो तथा कर्तव्यो की सामान्य परम्परा से बंधे हुए हो। अतः, जैसा अरस्तू ने कहा, कोई सीमा आवश्यक है।

"अगर किसी राज्य के नागरिकों को गुणावगुण के आधार पर निर्णय करना है और पदों का बंटवारा करना है, तो उन्हे एक दूसरे के चरित्र की जानकारी होनी चाहिए। जहाँ उन्हे ऐसी जानकारी नही होगी, वहाँ पदाधिकारियों के चुनाव और कानूनी अदालतो के निर्णय, दोनो मे ग़लती होगी। जहाँ जनसख्या बहुत अधिक होती है, वहाँ लोग अनियोजित ढंग से बस जाते है। स्पष्टतः ऐसा होना नही चाहिए। इसके अतिरिक्त, बहुत अधिक जनसंख्या वाले राज्यों

में विदेशी और बाहर से आकर बसे लोग आसानी से नागरिकता प्राप्त कर लेंगे, क्योंकि उनका पता नही लगेगा।"

जाहिर है कि अरस्तू के मन में यह विचार नही आया कि बाहर से आकर बसे लोगों और विदेशियों को नागरिकता प्राप्त करने की छूट होनी चाहिए। उनको या उनके युग के किसी अन्य यूनानी को, या मध्ययुग के स्वशासित नगर के व्यापारियों को यह ख्याल नही आया कि राज्य में किसी क्षेत्र-विशेष के अन्दर निवास करने वाले सभी लोंगो को शामिल होना चाहिए। इसकी बजाय, किसी समाज की जनसंख्या में से ही एक सम्मिलित संस्था के रूप में निर्मित होने पर भी राज्य में सम्पूर्ण जनसख्या नही आती थी।

इस प्रकार, प्राचीन और मध्ययुगीन लोकतन्त्र का स्वरूप किसी हद तक निजी संस्थाओं जैसा था। हम ऐसा कह सकते है कि उन लोकतांत्रिक संस्थाओं का विकास पूर्णतः व्यावहारिक था, वे अति विशिष्ट स्थितियों मे उत्पन्न हुई थी, और ऐसा समझा जाता था कि सामान्य हितों से बंधे हुए लोगों का काम चलाने के लिए, तथा विशिष्ट लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए, यह पद्धति सबसे अधिक सुविधाजनक थी। अरस्तू में हमें इसका कोई संकेत नही मिलता कि लोकतंत्र अपने आप मे शासन की एक उच्चतर पद्धति है, अथवा यह कि इसका उद्भव अपने किसी विशेष विचार-दर्शन से हुआ है। अगर उसमे सुविधा के अतिरिक्त अन्य कोई गुण है, तो ऐसे गुण सभी यूनानी राज्यों में समान है, अर्थात् अन्य सभ्यताओं की तुलना में यूनानी सभ्यता की उच्चता के कारण है। वस्तुतः, अरस्तू के दर्शन मे लोकतांत्रिक शासन-पद्धति और स्वयं राज्य के बीच कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा खोजना

कठिन है। राज्य, अगर वह राज्य कहलाने के लायक है, तो शासन की पद्धति चाहे जो भी हो, वह हमेशा 'स्वतंत्र और समान मनुष्यो का शासन होता है' और किसी भी राज्य मे यह हमेशा आवश्यक होता है कि 'स्वतंत्र मनुष्यो को, जिनमे जनता की बहुसख्या शामिल हो, कुछ मामलो मे अन्तिम अधिकार प्राप्त हो।' अरस्तू के दर्शन मे राजनीति के अन्दर अच्छे और बुरे का अन्तर शासन की अच्छी और बुरी पद्धतियो के वीच नही है, वरन् हर पद्धति के अच्छे और बुरे रूपों के बीच है। कोई भी शासन-पद्धति—राजतत्र, कुलीन-तत्र या लोकतत्र—अच्छी है, वशर्ते कि शासक केवल अपने वर्ग की भलाई को ही नही, वरन् सबके कल्याण को अपना लक्ष्य बनाएं। अरस्तू के दृष्टिकोण के अनुसार, लोकतत्र हो या तानाशाही, कोई पद्धति अपने आप में अच्छी या बुरी नही है, वरन् उसी हद तक अच्छी या बुरी है जहाँ तक वह उस लक्ष्य को प्राप्त करती है अथवा नही करती, जो सभी अच्छे राज्यो का लक्ष्य होता है। यह लक्ष्य है कि 'उसके निवासी सुखी हो।' अरस्तू के मन मे यह बात नही उठी कि लोकतत्र किसी विशेष अर्थ में मनुष्य की प्रकृति के अनुकूल होने के कारण हर जगह व्यवहार मे लाया जा सकता है, और इसलिए भाग्य अथवा देवताओ ने उसकी यह नियति बनाई है कि वह सारी दुनिया मे सभ्यता के एक उच्चतर रूप का प्रसार करे।

आधुनिक लोकतंत्र मुख्यत: इसी सन्दर्भ मे पुराने रूपो से भिन्न है। इसके आधार मे केवल न्यूनतम मान्यताए ही नही है वरन् कुछ और भी है। इसके पीछे एक पूर्ण विकसित विचार-दर्शन है, जो व्यक्ति को प्राकृतिक और अहरणीय अधिकार प्रदान करता है, और इस प्रकार शासन की लोक-

तांत्रिक पद्धति को अन्य पद्धतियों से अलग करता है, कि केवल इसी पद्धति से अच्छा जीवन उपलब्ध हो सकता है। तो फिर आधुनिक लोकतांत्रिक विश्वास के मूल सिद्धान्त क्या है ?

३

उदारवादी लोकतांत्रिक विश्वास, जैसा कि वह अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल के लेखकों की रचनाओं में व्यक्त हुआ है, प्रगति के आधुनिक सिद्धान्त के विभिन्न निरूपणों में से एक है। अतः उस सिद्धान्त के ऐतिहासिक विकास पर संक्षेप में दृष्टि डाल लेना उचित होगा।

धरती पर मनुष्य के लम्बे इतिहास में कभी ऐसा समय आता है जब वह अतीत को किसी अंश में याद करता है, भविष्य की किसी अंश में पूर्वकल्पना करता है, उस भूमि को पहचानता है जिसपर चलकर वह आया है, और सोचता है कि आगे उसे क्या मिलेगा—उस क्षण, जब वह संसार में सबसे अलग, एकाकी जीव के रूप में अपने को पहचानता है। जल्दी या देर से उसके सामने यह सर्वाधिक विनाशकारी तथ्य उभरता है कि एकमात्र उपेक्षापूर्ण जगत ही चिरस्थायी है, और उस जगत में एकमात्र वही है जिसमें आकांक्षाएं हैं, जो उपलब्धि के लिए प्रयास करता है, और उपलब्धि के बाद अन्ततः केवल पराजित ही होता है। उस क्षण के बाद फिर उसका तात्कालिक अनुभव पर्याप्त नही रह जाता, और वह प्रतीति योग्य आदर्श लोकों का निर्माण करके अपने आप को उसके आगे ले जाने की चेष्टा करता है—अन्य देश या काल

के आदर्श-लोक, जिनमें सभी कुछ अच्छा रहा है, हो सकता है, या होगा ।

प्राचीन कालों मे, आदर्श-लोक की कल्पना अज्ञात अतीत मे, सृष्टि के कल्पित आरम्भ मे आसानी से कर ली जाती थी—पान कू और स्वर्गिक सम्राटों का काल, अदन का बाग़, या राजा क्रोनोस का शासन, जब मनुष्य श्रम और शोक से मुक्त देवताओं की भाति रहते थे । प्रथम सृष्टि की इस सुख-मय अवस्था से निश्चय ही ह्रास और पतन हुआ है । मनुष्य की दुर्बलता और आज्ञा-उल्लघन के कारण भाग्य अथवा क्रुद्ध देवताओं ने यह दंड दिया है । अतः मनुष्य का मन निराशा से पीडित था, उसमें दैवी उद्देश्य के विरुद्ध जाने की अपराध-भावना थी, और यह भावना थी कि जगत को शुद्धता और निर्दोषिता की मूल स्थिति में वापस ले जाने की शक्ति उसमें नही है । बदलते हुए विश्व में असुरक्षित, और निरन्तर बिगडते हुए विश्व मे अपने को लाचार अनुभव करने वाले मनुष्यों को भविष्य मे कोई आशा दिखाई नही देती थी । इसे अधिकाश केवल चुपचाप स्वीकार किय जा सकता था । व्यक्तिगत प्राय-श्चित या सत्कार्य से, अथवा देवताओं के किसी चमत्कारिक हस्तक्षेप की आशा से, या देव-तुल्य राजाओं की, जो फिर से स्थिति को सुधारे, वापसी की आशा से स्थिति कुछ कम दु.खद हो जाती थी । किन्तु इसकी भी आशा कम ही थी कि स्थिति सुधरने पर फिर दोबारा नही बिगड़ जाएगी ।

आशिक रूप मे ईसाई धर्म ने, तथा मुख्य रूप मे पन्द्रहवी और अठारहवी शताब्दी के बीच होने वाली बौद्धिक क्राति ने पश्चिमी जगत मे इस व्यापक निराशा को धीरे-धीरे समाप्त किया । इसाई धर्म ने यह विश्वास प्रदान किया कि अतीत

का खोया हुआ स्वर्णयुग भविष्य में सद्गुणी लोगों के लिए पुनः निर्मित होगा। ईश्वर की दृष्टि में व्यक्ति का सर्वोच्च महत्त्व घोषित करके उसने मनुष्यों को इस योग्य बनाया कि वे मृत्यु के बाद स्वर्ग में अच्छे जीवन की आशा करें। इसी बीच में इतिहास और विज्ञान के तथ्यपूर्ण अध्ययन पर केन्द्रित धर्मनिरपेक्ष बौद्धिक क्रान्ति ने मनुष्यों के मन को भाग्य और दैवी क्रोध की स्वीकृति से मुक्त किया। इतिहास के संचित ज्ञान ने अतीत के सम्पूर्ण काल को विश्वसनीय घटनाओं के निरन्तर क्रम से भर दिया, और इस प्रकार सभी खोए हुए स्वर्णयुगों को पुराकथा के क्षेत्र में निर्वासित कर दिया। फलस्वरूप, मनुष्य इस योग्य हुए कि बदलती हुई दुनिया में बिना परेशानी के रह सकें, क्योंकि अब यह माना जा सकता था कि बदलने का अर्थ आवश्यक रूप में बिगडना ही नही था। इसके साथ ही, भौतिक वस्तुओं के क्रिया-कलाप के अधिक सूक्ष्म निरीक्षण और अध्ययन ने प्रकृति के एक वाह्य जगत के दर्शन कराए, जो मनुष्य से असम्वद्ध तो था, किन्तु उसका आचरण देवताओं के अज्ञेय खिलवाड़ जैसा न होकर, मनुष्य की बुद्धि द्वारा समझा जा सकने वाला था, और इस कारण अन्ततः मनुष्य के नियंत्रण के अधीन था।

इस प्रकार, ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिन्होंने इस बात को संभव बनाया कि मनुष्य आदर्श-लोक का कल्पना अतीत के खोए हुए स्वर्णयुग के रूप में, अथवा मृत्यु के उप-रान्त सद्गुणी लोगों के लिए स्वर्ग के रूप में न करके, धरती पर स्वयं मनुष्य द्वारा निर्मित भविष्य की एक स्थिति के रूप में करे। जब प्रकृति-जगत के बारे में समझा जाने लगा कि उस पर मनुष्य का नियंत्रण हो सकता है और जब बदलते

हुए सामाजिक सम्बधों के बारे मे समझा जाने लगा कि वह मूल निर्दोषिता से अनिवार्य ह्रास और पतन ही नही है, तो प्रगति के आधुनिक सिद्धान्त का निरूपण सम्भव हुआ—यह विचार कि निश्चित इरादे और बुद्धिपूर्ण निर्देशन के द्वारा मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्व की शर्तें निर्धारित कर सकते हैं, और उसमें अनिश्चित सीमा तक सुधार कर सकते हैं।

अठारहवी शताब्दी इतिहास का वह क्षण थी जब मनुष्यों ने इस शानदार विचार के आकर्षक नतीजो को समझा। उस समय तक यह विचार अनुभव की बड़ी कसौटी पर परखा नही गया था, और इस कारण निर्बाध आशावादिता के साथ स्वीकार किया जा सकता था। इतिहास के किसी भी पूर्वकाल की अपेक्षा सृष्टि इस समय कम रहस्यपूर्ण प्रतीत होती थी, अधिक खुली और दृश्यमान प्रतीत होती थी। सामान्य बुद्धि के प्रश्नो के उत्तर मे अपने भेद खोलने को अधिक तत्पर प्रतीत होती थी। मनुष्य की प्रकृति किसी भी पूर्वकाल की अपेक्षा कम विकृत प्रतीत होती थी, और उसका मन तर्कबुद्धि के प्रभावो के प्रति अधिक ग्रहणशील प्रतीत होता था। इस आत्म-विश्वासपूर्ण आशावाद का मूल कारण यह है कि वैज्ञानिक खोज के आश्चर्यो ने उस काल के मनुष्यो के समक्ष ईश्वर के ऐसे रूप का उद्घाटन किया जो कार्यरत तो था, किन्तु क्रुद्ध नही था। परमपिता ईश्वर की कल्पना एक ऐसे वर-दायक प्रथम कारण के रूप में की जा सकती थी, जो सृजन का अपना मूल कार्य सम्पूर्ण करके, मनुष्यो के जीवन से हट गया था। उसने मनुष्यो को सक्षम रूप में तैयार और पूर्णतः शिक्षित करके, अपनी मुक्ति प्राप्त करने का काम स्वय उन्ही

पर छोड़ दिया था। रूसो ने एक ही जबर्दस्त वाक्य में सृष्टि और उसमें मनुष्य के स्थान के सम्बन्ध में अठारहवीं शताब्दी के जगत का दृष्टिकोण व्यक्त कर दिया। उन्होंने कहा, "क्या यह सरल और स्वाभाविक है कि जां जाक्वे रूसो को सम्बोधित करने के लिए ईश्वर मूसा की तलाश मे गया हो?"

ईश्वर ने सचमुच रूसो को सम्बोधित किया था, सभी मनुष्यों को सम्बोधित किया था, किन्तु यह देववाणी उन धर्मग्रन्थों में नही थी जिनकी व्याख्या पवित्र चर्च करता था, वरन् प्रकृति की महान पुस्तक में थी, जो सभी मनुष्यों के लिए खुली हुई थी कि वे उसे पढ़ें। जब मनुष्य यह जानना चाहेंगे कि ईश्वर ने उनसे क्या कहा, तो वे प्रकृति की इस खुली हुई पुस्तक के पास जाएंगे। वहाँ उन्हें प्रकृति और प्रकृति के ईश्वर के नियम अभिलिखित मिलेंगे, जिनसे उन्हें ज्ञात होगा कि सृष्टि की रचना एक बुद्धिपूर्ण योजना के अनुसार हुई है। मनुष्य इन नियमों को ठीक-ठीक पढ़ सके, इसीलिए उन्हे तर्कबुद्धि प्रदान की गई है, सर्वनिष्ठ बुद्धि का एक अंश, जो व्यक्ति के अन्दर है, ताकि वस्तुओं और घटनाओं मे निहित सर्वनिष्ठ तर्क का उसे ज्ञान हो सके। वाल्नी ने बड़े विश्वास के साथ और स्पष्ट रूप में कहा, "प्राकृतिक नियम तथ्यों की नियमित और स्थायी व्यवस्था है, जिसके द्वारा ईश्वर सृष्टि का शासन करता है। यह व्यवस्था ईश्वर मनुष्यों की बुद्धि और संवेदन के समक्ष प्रस्तुत करता है जिससे वह आचरण के समान और सामान्य नियम के रूप में उनके लिए उपयोगी हो, और बिना जाति या पंथ के भेद-भाव के, सुख और सपूर्णता की दिशा में उनका मार्ग-दर्शन करे।" इस प्रकार, ईश्वर ने एक नियोजित अर्थ-व्यवस्था निर्मित

की थी, और मनुष्यों को उसका प्रबन्ध करने की क्षमता प्रदान की थी—मनुष्य के जिम्मे सीधा-सा कार्य यह था कि अपने विचारों, अपने आचरण और अपनी संस्थाओं को प्रकृति के सर्वनिष्ठ नियमो के अनुकूल बनाए।

राजनैतिक सिद्धान्त को हमेशा ही किसी न किसी रूप मे तत्कालीन विश्व-दृष्टिकोण के अनुकूल बनना पडता है, और उदारवादी लोकतान्त्रिक राजनैतिक सिद्धान्त भी इसमें अपवाद नही था। न जाने कब से व्याप्त विश्व-दृष्टिकोण और राजनैतिक तथा सामाजिक सिद्धान्त दोनों के ही मुख्य सूत्र थे सत्ता और आज्ञापालन। न जाने कब से मनुष्यों को उच्चतर सत्ता के अधीन समझा जाता था—देवताओ की सत्ता, और राजाओं की सत्ता, जो स्वयं देवता या देवताओं के वशज होते थे, या देवताओं के स्थान पर शासन करने के लिए उन्हे दैवी सत्ता प्राप्त होती थी। और, न जाने कब से, ऐसी दैवी सत्ता की आज्ञाओं का पालन मनुष्यों का प्रथम कर्तव्य समझा जाता था। यूनानी लोग भी यू तो अपने देवताओं से इतना कम डरते थे कि उनके साथ मित्रतापूर्ण और आकर्षक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे, किन्तु वे भी सांसारिक जीवों को देवताओ के अधीन मानते थे। और जब देवताओं पर उन्हे विश्वास नही रहा, तो उन्होने राज्य को ही उच्चतम श्रेय मानकर उसे दैवी रूप प्रदान कर दिया और व्यक्ति को उसके अधीन कर दिया। किन्तु अठारहवी शताब्दी की विश्व-दृष्टि ने मनुष्य को ही सभी चीजो की कसौटी बनाकर सत्ता और आज्ञापालन के बीच इस तीखे विरोध को अगर नष्ट नही किया, तो बहुत कम कर दिया। ईश्वर का राज्य अब भी था, लेकिन वह शासन नही करता था। ऐसा कह

सकते है कि ईश्वर ने अपनी प्रजा को एक संविधान प्रदान कर दिया था, और उन्हें अधिकार दे दिया था कि तर्कबुद्धि के सर्वोच्च न्यायालय में वे उसकी जैसी चाहें व्याख्या करे। मनुष्य अब भी एक उच्चतर सत्ता के अधीन थे, किन्तु इस अधीनता को स्वैच्छिक माना जा सकता था, क्योंकि वह स्वतः स्वीकृत थी, और स्वतः स्वीकृत इसलिए थी कि उन्हे केवल अपनी तर्कबुद्धि की आज्ञा का ही पालन करना था, किसी दमनकारी शक्ति का नहीं।

उदारवादी लोकतांत्रिक सिद्धान्त ने अपने को आसानी से विश्व-दृष्टि में हुए इस परिवर्तन के अनुकूल बना लिया। अब जनवाणी को ही देववाणी मान लिया गया, और वही सारी सत्ता का स्रोत थी। राज्य या राजा के बजाय अब व्यक्ति को ईश्वरीय रूप देकर अहरणीय अधिकारों से सम्पन्न कर दिया गया। और चूकि मनुष्य के अधिकारों का अज्ञान या उपेक्षा ही सामाजिक बुराइयों का मुख्य कारण थी, अतः राजनीति-शास्त्र का पहला कार्य था इन अधिकारों की परिभाषा करना। उसका दूसरा कार्य था शासन की ऐसी पद्धति निरूपित करना जो इन अधिकारों की सुरक्षा के लिए उपयुक्त हो। मनुष्य के अहरणीय अधिकारों की परिभाषा आसान थी, क्योंकि ये स्वयंसिद्ध थे—"सभी मनुष्य जन्म से समान हैं (और) उनके सृजनकर्ता ने उन्हें कुछ अहरणीय अधिकार प्रदान किए है, जिनमें जीवन, स्वतन्त्रता और सुख-प्राप्ति के उपाय भी शामिल है।" इससे नतीजा निकलता था कि सभी न्यायपूर्ण शासन इन अधिकारों को क्षति पहुँचाने वाले कृत्रिम बन्धनों को समाप्त करेंगे, और इस प्रकार उन प्राकृतिक सवेगों को मुक्त करेंगे, जो विचार और आचरण मे व्यक्ति

का मार्ग-दर्शन करने के लिए ईश्वर ने उसे प्रदान किए है। बौद्धिक क्षेत्र में, विचारों की स्वतंत्रता और विभिन्न मतों की प्रतियोगिता के फलस्वरूप सत्य उद्घाटित होगा, और तार्किक प्राणी होने के कारण सभी मनुष्य उसे अधिकाधिक समझेंगे और स्वेच्छा से उसका अनुसरण करेंगे। आर्थिक क्षेत्र मे, उद्यम की स्वतत्रता से ही व्यक्ति की स्वाभाविक रुचिया व्यक्त होंगी, फलस्वरूप होने वाली हितों की प्रतियोगिता से प्रयत्न को बढ़ावा मिलेगा और इस प्रकार सभी को अधिकतम भौतिक लाभ प्राप्त होगा। इस तरह, सामाजिक बन्धन से व्यक्ति की मुक्ति न केवल एक निहित प्राकृतिक अधिकार थी, वरन् मनुष्य जाति की भौतिक और नैतिक प्रगति के लिए एक पूर्वनिश्चित प्राकृतिक व्यवस्था भी थी। मनुष्य को केवल तर्कबुद्धि और स्वार्थ के अनुसार कार्य करना था—औचित्य के लिए और जो कुछ भी आवश्यक था, उसे उन्हे स्वयं नही करना था, वरन् वह ईश्वर और प्रकृति द्वारा सम्पन्न होना था।

इस प्रकार, आधुनिक उदारवादी लोकतन्त्र एक ऐसे विचार-दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है, जो लोकतान्त्रिक शासन के लिए आवश्यक न्यूनतम मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों पर भी आधारित है। सार्वत्रिक रूप मे वैध लक्ष्यों और साधनों का एक दर्शन इसका आधार है। व्यक्ति की गरिमा, उसकी महत्ता और सृजनात्मक क्षमता इसकी आधारभूत मान्यता है, और इस कारण अधिकतम आत्म-निर्देशन शासन का मुख्य लक्ष्य है, और इस लक्ष्य की प्राप्ति का मुख्य साधन है राज्य द्वारा न्यूनतम बाध्यता। आदर्श रूप मे, लक्ष्य और साधन स्वतन्त्रता की धारणा मे संयुक्त रूप मे विद्यमान है—विचारो की स्वतन्त्रता, ताकि प्रतिभा के लिए मार्ग उन्मुक्त रहे;

स्वशासन की स्वतन्त्रता, ताकि किसीको उसकी इच्छा के विरुद्ध मजबूर न किया जाए।

इस आदर्श की प्राप्ति की संभावना में लोकतंत्र के पैगम्बरों और समर्थकों ने सन्देहरहित विश्वास प्रकट किया। अगर उनका विश्वास हमें कुछ बचकाना प्रतीत होता है तो इस कारण कि मनुष्य के आचरण का निर्धारण करने में उन्होंने सद्भावना और तार्किक विचार-विमर्श के तात्कालिक प्रभाव पर बहुत अधिक भरोसा किया, जो अब हमारे लिए संभव नहीं है। जान स्टुअर्ट मिल की *आत्मकथा* (आटोबायग्राफी) के एक अंश में हम इस अन्तर को आसानी से देख सकते है। इस अंश में वे दो वस्तुओं में अपने पिता के असामान्य विश्वास का वर्णन करते है—प्रतिनिधि शासन और विचार-विमर्श की पूर्ण स्वतन्त्रता।

"तर्कबुद्धि की बात जब भी मनुष्यों तक पहुंच सके, तो उनके मन पर उसके प्रभाव के सम्बन्ध में मेरे पिता को पूर्ण विश्वास था। यहाँ तक कि उनका विचार था कि अगर समूची जनसंख्या को पढ़ना सिखा दिया जाए, अगर बोलकर और लिखकर सभी प्रकार के मतों को उन तक पहुँचने दिया जाए, और अगर मताधिकार के द्वारा वे ऐसा विधायक मंडल नियुक्त कर सकें, जो उनके स्वीकृत मतों को कार्यान्वित करे, तो सभी लक्ष्य सिद्ध हो जाएंगे। उनका विचार था कि जब विधान-मण्डल किसी वर्ग-हित का प्रतिनिधित्व नही करेगा, तो वह ईमानदारी से और पर्याप्त बुद्धिमत्ता के साथ सामान्य हित को अपना लक्ष्य बनाएगा। चूंकि लोग पर्याप्त रूप में शिक्षित बुद्धि द्वारा निर्देशित होंगे, अतः वे आम तौर पर अपना प्रतिनिधित्व करने के लिए अच्छे व्यक्तियों को चुनेंगे, और फिर

उन चुने हुए लोगों के लिए निर्णय का काफी बडा क्षेत्र छोड़ देंगे। उनकी राय थी कि मनुष्य-जाति के कार्यकलाप मनुष्यों में उपलब्ध सर्वोत्तम बुद्धि द्वारा संचालित हों, इसके मार्ग में सबसे बडी बाधा थी अभिजात शासन, किसी भी रूप में कुछ थोड़े-से लोगो का शासन। तदनुसार, वे अभिजात शासन के कठोरतम आलोचक थे, और लोकतांत्रिक मताधिकार उनके राजनैतिक मत का मूल सिद्धान्त था।"[१]

जेम्स मिल से सम्बद्ध दार्शनिक उग्रपथियो का छोटा-सा समूह भी उनसे सहमत था। वस्तुत ऐसे सभी लोगों का यही मत था, जिनकी आशाएँ उस महान आन्दोलनमय काल मे लोकतान्त्रिक शासन पर केन्द्रित थी, कि उससे अन्याय और उत्पीड़न दूर होगे। इन निष्ठावान समर्थकों के अनुसार लोकतात्रिक शासन का कार्य-संचालन किस प्रकार होना चाहिए, और जिस आदर्श लोकतंत्र को कितने ही ईमानदार मनुष्यो ने अपनी निष्ठा देकर उसके लिए संघर्ष किया है, उसमे मनुष्य किन उद्देश्यों से प्रेरित होंगे, और किन लक्ष्यो के लिए प्रयास करेंगे, इसका सर्वोत्तम वर्णन जेम्स ब्राइस ने अपनी रचना *माडर्न डेमोक्रेसीज* में किया है। ब्राइस ने लिखा है कि इस आदर्श लोकतन्त्र में, "औसत नागरिक इसे अपने हित के अतिरिक्त अपना कर्तव्य भी समझकर सार्वजनिक मामलो की ओर निरन्तर, पूरी तरह ध्यान देगा। वह नीति के मुख्य प्रश्नों को समझने की चेष्टा करेगा, और उन पर ऐसी स्वतन्त्र और निष्पक्ष बुद्धि से विचार करेगा, जो स्वय अपने हित को नही, वरन् सामान्य हित को प्रथम स्थान देती है। सामान्य

---

१. आटोबायग्राफी (कोलम्बिया प्रेस, १९२४), पृष्ठ ७४

कल्याण के लिए क्या उपाय आवश्यक है, इस प्रश्न पर अनिवार्य मतभेद के फलस्वरूप अगर दलों का निर्माण अपरिहार्य हो जाता है, तो वह किसी एक में शामिल होकर उसकी बैठकों में भाग लेगा, किन्तु दलगत भावना के आवेगों को दबाएगा। वह मतदान करने से कभी नहीं चूकेगा, और अपने दल के उम्मीदवार के लिए तभी मत देगा जब वह उसकी क्षमता और ईमानदारी के सम्बन्ध में सन्तुष्ट होगा। वह तैयार होगा कि···विधानमण्डल के लिए उसे उम्मीदवार बनाया जाए (बशर्ते कि वह स्वयं अपनी क्षमता के बारे मे सन्तुष्ट हो), क्योंकि सार्वजनिक सेवा को कर्तव्य माना जाएगा। ऐसे नागरिकों के मतदाता होने पर विधान-मंडल में चरित्रवान और सक्षम व्यक्ति होंगे, जिनमें एकनिष्ठ होकर राष्ट्र की सेवा करने की इच्छा होगी। चुनाव-क्षेत्रों में घूसखोरी और सार्वजनिक सेवाओं में भ्रष्टाचार का लोप हो जाएगा। यह सम्भव है कि नेता हमेशा एकनिष्ठ न हों, या विधान-मण्डल हमेशा बुद्धिपूर्ण न हों, अथवा प्रशासक हमेशा कुशल न हों, किन्तु हर हालत में वे ईमानदार और उत्साही होंगे, जिससे विश्वास और सद्भावना का वातावरण फैलेगा। संघर्ष उत्पन्न करने वाले अधिकांश कारण नही रहेंगे, क्योंकि विशेषाधिकार नहीं रहेंगे, ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले विशेष लाभ नही रहेंगे। पद-प्राप्ति की चेष्टा लोग इसीलिए करेगे कि उससे उपयोगी सार्वजनिक सेवा का अवसर मिलता है। शक्ति मे सभी का हिस्सा होगा, और किसी कार्यजीवन का अवसर सभी को उपलब्ध होगा। कानून अगर सम्पत्ति का संचय नही भी रोकता—शायद वह ऐसा कर भी नही सकता—तो भी बडी सम्पत्तियो की संख्या अधिक नहीं होगी, और मात्रा भी असाधारण रूप में विशाल

नही होगी, क्योंकि सार्वजनिक सतर्कता धन-प्राप्ति के अनुचित मार्गो को बन्द कर देगी। सर्वथा पतित लोगो के अतिरिक्त, सभी लोग कानून का समर्थन और पालन करेंगे, क्योंकि वे उसे अपना ही समझेंगे। हिंसा के लिए कोई कारण नही रहेगा, क्योंकि संविधान में हर शिकायत के इलाज की व्यवस्था रहेगी। समानता से मानवीय एकता की भावना उत्पन्न होगी, आचरण परिष्कृत होंगे, और भाई-चारे की हार्दिकता बढेगी।"[१]

ऐसा है आधुनिक लोकतन्त्र का आदर्श स्वरूप, जो स्वर्ग मे है। आपको यह बताने की जरूरत नही कि इसका सांसारिक प्रतिरूप इससे बहुत थोड़ा ही मिलता है। आदर्श रूप मे प्रस्तुत लोकतन्त्र तथा आज वास्तव मे कार्य कर रहे लोकतन्त्र के बीच इतना अधिक अन्तर उत्पन्न करने वाली परिस्थितियो मे से कुछ की चर्चा मैं अगले भाषण मे करूँगा।

---

१. खंड एक, पृष्ठ ४८

दो

यथार्थ

जिन विनाशकारी मार्गों से स्वार्थपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रवाहित हो रही थीं, उन्हें मनुष्य भूल से स्वयं ऐसी प्रवृत्तियाँ ही समझ बैठे, जिनके सम्बन्ध में निश्चित था कि पुराने मार्गों के नष्ट हो जाने पर वे नए मार्ग निकाल लेंगी।

जेम्स ब्राइस

जो देश के मालिक हैं, उन्हें ही उसका शासन करना चाहिए।

जॉन जे

२

पिछले भाषण मे हमारा विषय था लोकतंत्र का आदर्श रूप। जाहिर है कि यथार्थ ठीक इस आदर्श के अनुरूप नही है। इसमे कोई असाधारण बात नही। आदर्श हमेशा ही यथार्थ से ज्यादा अच्छा होता है, अन्यथा आदर्शों की कोई आवश्यकता ही न हो। हमे बताया गया है कि रूस मे क्रांति के साथ विश्वासघात हुआ है। लेकिन उसके साथ विश्वास-घात तो होना ही था। यह क्रान्तियो की प्रकृति है कि उनके साथ विश्वासघात हो, क्योकि मनुष्यो की आदर्श आकांक्षाओ से विश्वासघात करना जीवन और इतिहास की एक लाइलाज आदत है। इस अर्थ मे उदारवादी लोकतान्त्रिक क्रांति के साथ भी विश्वासघात होना ही था—यह विचार-दर्शन मनुष्यों को जितना तर्कपूर्ण और सद्भावनापूर्ण समझता था, उनका वैसा न होना निश्चित था। किन्तु जहाँ थोडा-बहुत विश्वासघात सामान्य बात है, वहाँ बहुत अधिक विश्वासघात ऐसी बात है जिसका कारण खोजना आवश्यक है। उदारवादी लोकतान्त्रिक क्रान्ति के साथ इतना अधिक विश्वासघात हुआ है, घटना-क्रम ने आदर्श को इतने दोषपूर्ण रूप मे प्रस्तुत किया है, कि उसकी मुख्य विशेषताए आज किसी भी लोकतान्त्रिक समाज मे आसानी से पहचानी नही जा सकती। लोकतंत्र के आदर्श के रूप और उसके व्यावहारिक रूप के बीच जो गंभीर अन्तर है, उसके मूल कारणो मे से कुछ को मैं इस भाषण में बताने की चेष्टा करूगा।

सामान्य शब्दावली में कहें, तो अठारवी शताब्दी मे स्वतंत्रता का विचार जिस प्रकार निरूपित किया गया था, वह उस समय के लिए पर्याप्त वैध होने पर भी, एक आधारभूत मामले में हमारी आज की स्थिति पर लागू नही होता। अठारहवीं शताब्दी मे व्यक्ति के स्वतंत्र क्रियाकलाप पर लगे हुए शासकीय प्रतिबन्ध उत्पीड़न का सर्वाधिक स्पष्ट रूप थे। अत: स्वतंत्रता को स्वभावत: ऐसे प्रतिबन्धों से व्यक्ति की मुक्ति के रूप में देखा गया। आर्थिक क्षेत्र में इसका अर्थ था अपने कार्यक्षेत्र का चुनाव करने में, सम्पत्ति के क्रय-विक्रय के लिए अनुबन्ध करने में, और निजी सेवाओं को खरीदने या बेचने में शासकीय प्रतिबन्धों की समाप्ति। किन्तु हमारे काल में मशीनी समाज की बढ़ती हुई पेचीदगी के फलस्वरूप, आर्थिक क्रियाकलाप से शासकीय प्रतिबन्धों की समाप्ति ने नए उत्पीड़नों को जन्म दिया है, और अब मनुष्यों की बहुसंख्या को स्वतंत्रता तभी उपलब्ध हो सकती है, जब प्रतियोगितापूर्ण व्यापारिक उद्यम में शासकीय नियम को बढ़ाया जाए। आर्थिक क्षेत्र ही है, जिसमें स्वतंत्रता का परम्परागत विचार अब लागू नही होता। अत: आर्थिक क्षेत्र में ही लोकतत्र के आदर्श रूप और उसके व्यावहारिक रूप का अन्तर सबसे अधिक तीखा है, सबसे अधिक निराशाजनक है, और सबसे अधिक खतरनाक है।

इस कथन पर विस्तार से विचार करने के लिए, अच्छा होगा कि पहले हम अठारहवी शताब्दी की सामाजिक स्थिति की मुख्य विशेषताओं पर दृष्टि डालें—वह स्थिति जिसका विरोध उदारवादी लोकतांत्रिक क्रान्ति का लक्ष्य था, और जिसमें एक स्पष्ट और वैध तार्किक परिणाम के रूप में स्वतन्त्रता के विचार का विकास हुआ।

बारहवी से सत्रहवी शताब्दी तक, नगरों में एक औद्योगिक पूजीपति वर्ग का उदय पश्चिमी यूरोप का सर्वप्रमुख आर्थिक तथ्य था सर्वप्रमुख राजनैतिक तथ्य था निश्चित भौगोलिक सीमाओ के अन्दर सभी वर्गो और निगमों के ऊपर राजशक्ति की सुदृढ प्रतिष्ठा। इस राजनैतिक प्रक्रिया मे राजाओ को दो मुख्य बाधाओ का सामना करना पड़ा—एक तो सामन्त सरदार, जो अपने क्षेत्रो मे लगभग पूर्ण स्वतन्त्रता का दावा करते थे, और बहुधा उसका उपभोग भी करते थे; दूसरे, रोम का कैथोलिक धर्म-सगठन जो धर्म-निरपेक्ष सत्ता से उच्चतर होने का दावा करता था, बहुत-कुछ एक स्वशासित सगठन था, और वास्तव मे किसी भी राजा की प्रजा पर उसकी सत्ता राजा की सत्ता से स्वतन्त्र और बहुधा उसके विरुद्ध भी होती थी।

शक्ति के इस तिकोने संघर्ष में, कभी धर्म-संगठन सामन्तों के विरुद्ध राजा का समर्थन करता था, कभी सामान्त धर्म-सगठन के विरुद्ध उसका समर्थन करते थे। किन्तु राजाओं को धर्म-सगठन और सामन्त दोनों के ही विरुद्ध निरन्तर और प्रभावकारी समर्थन बढ़ते हुए औद्योगिक वर्ग से प्राप्त हुआ। वणिक् और व्यापारी हमेशा सामन्तो की हरकतो को व्यापार के लिए हानिकारक पाते थे, और इसमें उन्हे चाहे जितना कष्ट होता हो, किन्तु व्यवस्थित शासन की स्थापना के लिए आवश्यक धन का एक हिस्सा राजा को देने के लिए वे आम तौर पर तैयार रहते थे। इस प्रकार, कई सदियों मे, और मुख्यतः औद्योगिक पूजीपति वर्ग की सहायता से, राजाओ ने धीरे-धीरे सामन्तो की स्थिति, मात्र भू-स्वामियों की बना दी। राजा की अधीनता स्वीकार करने के पुरस्कार-स्वरूप, एक

उच्च सामाजिक वर्ग की प्रतिष्ठा और विशेषाधिकार उनके पास बने रहे।

इस बीच में धर्म-संगठन को राजशक्ति के अधीन करने का लम्बा संघर्ष उस हलचल द्वारा लगभग पूर्ण हो गया जिसे प्रोटेस्टेंट-सुधार कहा जाता है। औद्योगिक वर्गों की बढ़ती हुई शक्ति और रूढ़ि-विरोधी विचारों ने ही सुधार-आन्दोलन को सफल बनाया। प्रोटेस्टेंट-सुधार-आन्दोलन सर्वत्र ही गांवों की अपेक्षा शहरों मे, तथा अनौद्योगिक देशों की अपेक्षा औद्योगिक देशों में अधिक सबल था। वस्तुतः, यह मध्यम वर्गों का ऐसे धर्म-संगठन के विरुद्ध विद्रोह था, जो भूस्वामी अभिजात वर्ग द्वारा नियंत्रित होने के कारण ऐसे नैतिक प्रतिमान और धार्मिक व्यवहार के नियम लागू करता था, जो औद्योगिक समाज के वातावरण के प्रतिकूल और उसके हितों के विरुद्ध थे। सुधार-आन्दोलन का मुख्य राजनैतिक परिणाम यह हुआ कि रोम की शक्ति को तोड़कर उसने राजाओं की शक्ति बढ़ाई, और राजाओं की शक्ति बढ़ाकर धर्म को राज्य के अधीन किया। इस प्रकार, सामान्तों की भाँति धर्माधिकारियों की स्थिति भी केवल एक विशेषाधिकारयुक्त सामाजिक वर्ग की रह गई।

इस प्रकार, सत्रहवी शताब्दी में औद्योगिक पूजीपति वर्ग के उदय, राजशक्ति के सुदृढ़ होने और राज्य के अन्दर विशेषाधिकारयुक्त वर्गों के रूप में सामन्तों और धर्माधिकारियों के बने रहने के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप में एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था निर्मित हुई, जिसका रूप सर्वत्र लगभग एक जैसा ही था। शासन का तत्कालीन रूप पूर्ण राजतंत्र का था। सिद्धान्त रूप में राजा की शक्ति दैवी

अधिकार के सिद्धान्त पर आधारित थी। रोम के कानून की यह धारणा कि 'राजा की इच्छा में कानून का बल है' इसकी पुष्टि करती थी। किन्तु व्यवाहर मे राजा की शक्ति सामन्तों, धर्माधिकारियों और धनी उद्योगपतियों और महाजनों के समर्थन पर निर्भर थी, और यह शक्ति अधिकाश किसानो और मजदूरों की निम्न स्तरीय जनसंख्या का शोषण करके उक्त वर्गों के लाभ के लिए काम करती थी।

कहना चाहिए कि यह एक वहुत ही नियंत्रित व्यवस्था थी—ऐसी व्यवस्था, जिसमे व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य सामान्यतः उस वर्ग के अधिकारों और कर्तव्यों से निर्धारित होते थे, जिसमें उसका जन्म हुआ हो, और ये भी हमेशा राजा की स्वेच्छा के अधीन होते थे। आम तौर पर, व्यक्ति को न तो कार्य की स्वतन्त्रता थी, न मत या धर्म की, और न कोई ऐसा मान्य तरीका ही था जिसके द्वारा वह उन कानूनो और प्रथाओं को निर्मित या संशोधित कर सके, जिनका उसके विचारो और आचारण पर नियंत्रण हो। सत्रहवी शताब्दी से उन्नीसवी शताब्दी के बीच हुई उदारवादी लोकतान्त्रिक क्रांति पर इस तथ्य का गंभीर प्रभाव था। शब्द-लालित्य को छोड दे, तो सभी क्रातियां स्वतन्त्रता के लिए होती है—किसी प्रकार के वास्तविक या काल्पनिक उत्पीडन से स्वतन्त्रता के लिए। ऐसी सामाजिक स्थिति मे, जिसमे व्यक्ति बिल्कुल स्पष्ट रूप मे ऐसे कानूनो और ऐसी प्रथाओ के प्रतिवन्ध और उत्पीड़न का शिकार था, जिनका निर्माण उसने स्वयं नही किया था, यह अनिवार्य था कि स्वतन्त्रता को सामाजिक और राजनैतिक नियंत्रण से व्यक्ति की मुक्ति के रूप मे देखा जाए।

क्रांति को जन्म देने और उसका निर्देशन करने वाले लोग वे नही थे, जो सबसे अधिक पीड़ित थे, वरन् ऐसे लोग थे जिनमें उत्पीड़न की चेतना सबसे अधिक थी, और जो उसकी निन्दा करने और उसका प्रतिरोध करने में सर्वाधिक सजग थे—अर्थात् जड़ और अज्ञानी किसान और मजदूर नही; वरन् शिक्षित और सम्पन्न मध्यमवर्ग। शहरी मध्यमवर्ग को अपनी शक्ति जन्म अथवा पद से नही; वरन् धन से प्राप्त होती थी—जो सभी भौतिक वस्तुओ का मूल्यांकन करने की अमूर्त और सबल माप है। वे जिन पेशों में लगते, उसके अनुकूल शिक्षा प्राप्त करते, उसके अनुकूल गुणो और मानसिक दृष्टि का विकास करते। उनका जीवन व्यावहारिक था, सम्बन्ध नियत और निश्चित थे। उनका सम्बन्ध ठोस वस्तुओं से, और उनकी विक्री तथा आकलनीय नकद मूल्य से था। अत: उन्होने कमखर्ची और मिताचार, विश्वसनीयता और बुद्धिपूर्ण निर्णय के गुणों को विकसित किया। उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक और शंकालु बना, जो रहस्यवादिता और पारलौकिकता के प्रतिकूल था, परम्परा का अन्ध-अनुकरण करने को तैयार नही था, और नई तथा प्रयोगात्मक बातों को आसानी से स्वीकार कर लेता था।

हर देश मे उदारवादी लोकतांत्रिक क्राति का विकास, कभी-कभी हिंसापूर्ण विद्रोहों के साथ, उसी हद तक हुआ, जिस हद तक शहरी मध्यमवर्ग ने शक्ति प्राप्त की और उसमें वर्ग-चेतना आई—अर्थात् जिस हद तक उनमें अपने वर्ग के विशिष्ट हितों और गुणों की चेतना आई, और जिस हद तक उनमे यह चेतना आई कि पुराने वर्ग-भेद और स्वेच्छ राजादेश उनके हितों और गुणों के विकास में बाधक थे, क्योकि

ये व्यापारिक उद्यम के मार्ग में बाधा डालते थे, और अभिजात वर्ग के हित मे उन्हे उनकी सपत्ति से वंचित करते थे, जबकि उनकी अपनी राय में यह अभिजातवर्ग उनसे कम बुद्धिमान, कम नैतिक, और समाज के लिए कम उपयोगी था। उदारवादी लोकतान्त्रिक क्राति के विकास में केन्द्रीय, नाटकीय घटना थी फ्रास की क्राति। और इस घटना के प्रसंग में ही, पश्चिमी यूरोप मे असाधारण रूप में योग्य बुद्धिजीवियो का एक समूह सामने आया, जिसने सामाजिक स्थिति को तार्किक आधार प्रदान करते हुए मध्यम वर्ग के हितो को सभी मनुष्यो का अधिकार बना दिया—सभी मनुष्यो के लिए सामाजिक स्थिति और अवसर की समानता का अधिकार, कार्य तथा आर्थिक उद्यम की स्वतन्त्रता का अधिकार, मत और धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, और स्वेच्छ राजनैतिक सत्ता से स्वतन्त्रता का अधिकार।

२

शहरी मध्यम वर्ग और क्राति के सौभाग्य से, मध्यम वर्गों के हित एक अर्थ मे विशाल बहुमत के हितों से एकरूप थे। उदारवादी लोकतान्त्रिक क्राति अगर केवल मध्यम वर्ग के हितो को लेकर लडी जाती, तो उसे कभी विजय न मिलती। जिन स्वतंत्रताओ की माग की गई, उनमे आर्थिक उद्यम की स्वतत्रता पर दार्शनिको ने सबसे कम जोर दिया, और क्रांतिकारी प्रचार की दृष्टि से इसका महत्त्व सबसे कम था। जिस स्वतंत्रता की मॉग सबसे अधिक आग्रह के साथ की जा सकती थी, और जिससे इन्कार करना सबसे कठिन था, वह थी

वैयक्तिक और मत की स्वतन्त्रता—धर्म की स्वतन्त्रता, भाषण और अखबार की स्वतन्त्रता, शिक्षा और अध्यापन की स्वतन्त्रता, उन अमानवीय क्रूरताओं से स्वतन्त्रता, जो न्याय के धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष प्रशासन में, तथा अपराधों को दंडित करने में प्रचलित थी । व्यक्ति की महत्ता और गरिमा घोषित करने में और मनुष्य के प्रति मनुष्य की अमानवीयता से मुक्ति की मांग करने में मध्यम वर्गीय प्रवक्ता ऐसे हितों की अपील कर रहे थे, जो सभी वर्गों के लिए एक समान थे। वे ईसाइयत के आचरण के विरुद्ध उसकी आत्मा को अपील कर रहे थे, और ऐसे लक्ष्य का समर्थन कर रहे थे, जिसके साथ दुनिया के सभी सन्तों और ऋषियों के नाम जुड़े हुए थे । ऐसा करके उन्होंने उदारवादी लोकतांत्रिक क्रांति को एक धार्मिक आन्दोलन की विशेषता प्रदान की, और उसके पक्ष मे ऐसा व्यापक समर्थन संगठित किया, जिसे प्राप्त करके ही उसकी सफलता निश्चित हो सकती थी ।

दुर्भाग्यवश, मध्यम वर्ग के राजनैतिक और आर्थिक हितों को इसी प्रकार सभी के हितों से एकरूप नही बनाया जा सकता था । इसके विपरीत, आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही क्षेत्रों में मध्यम वर्ग के हित आगे चलकर जनसाधारण के हितों से तेजी के साथ टकराए । यह मध्यम वर्ग के हित में था कि वे स्वयं जिन राजनैतिक विशेषाधिकारों की माँग करते थे, उनसे जनसाधारण को वंचित रखें । इसके साथ ही, मध्यम वर्गीय मालिकों को धन-सम्पन्न करने वाली आर्थिक उद्यम की स्वतन्त्रता सर्वहारा किसानों और मजदूरों के लिए नए रूपों में पुरानी गुलामी ही साबित हुई । उदारवादी लोकतन्त्र के विकसित होने पर, वर्ग-हितों का यह टकराव अधिक स्पष्ट

और अधिक विनाशकारी प्रमाणित हुआ। और इसी टकराव ने हमारे काल में उन गम्भीर सामाजिक विरोधों को जन्म दिया है जो बडी हद तक लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को नकारते हैं, और लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो की स्थिरता पर आघात करते है।

क्रान्ति की प्रारम्भिक स्थितियो में, जब राजाओं और सामन्तों को राजनैतिक सत्ता और सामाजिक विशेषाधिकार से वंचित करना ही मुख्य कार्य था, मध्यम वर्ग और निम्न-वर्ग के हितों मे यह निहित टकराव स्पष्ट नही था। वस्तुतः कुछ समय तक यह टकराव था ही नहीं। राजाओ और सामन्तों के अत्याचार, जिनकी दार्शनिकों ने प्रभावकारी आलोचना की थी, पूर्णत वास्तविक थे, और जब तक ये अत्याचार थे, तब तक सभी अधिकारहीन लोगों का, चाहे वे मध्यम वर्ग के हो या जनसाधारण, उनका प्रतिरोध करने मे सामान्य हित था। सभी लोगो को अपना शासन स्वयं करने का प्राकृतिक अधिकार है, यह सिद्धान्त उस समय एक सरल सत्य मात्र ही प्रतीत होता था, और मध्यम वर्ग के लिए संभव था कि इसकी व्यावहारिक समस्याओ की चिन्ता किए बिना इसे स्वीकार कर ले। ऐसा इसलिए भी था कि इसे स्वीकार करके ही वह निरंकुश राजतन्त्र और वर्ग-विशेषाधिकारों का नाश करने में जनता का समर्थन प्राप्त कर सकता था। समस्त महान क्रान्तिकारी दिनों मे—सत्रहवी शताब्दी में इगलिस्तान के गृह-युद्ध, अठारहवी सदी के अन्तिम भाग में अमरीकी और फ्रासीसी क्रान्तिया, दक्षिण अमरीका में स्वाधीनता के सघर्ष, १८३० और १८४८ की क्रातियों—इन सभी निर्णायक संघर्षो मे, जिनमे राजाओं और समान्तों का

अत्याचार ही मुख्य प्रश्न था, हम तत्कलीन शासन को उलटकर राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के प्रयास में मध्यम वर्ग और जनसाधारण को एकताबद्ध पाते है। उनमें अन्तर केवल इतना ही था कि संघर्ष में उनकी भूमिकाएँ अलग-अलग थीं। मध्यम वर्ग का काम था पहल करना और विचार प्रस्तुत करना। जनसाधारण का काम था मोर्चेबन्दी करना और आवश्यक जनबल प्रदान करना।

किसी नई व्यस्स्था के निर्माण के लिए एकताबद्ध होने की अपेक्षा, किसी वर्तमान शासन को नष्ट करने के लिए विभिन्न समूहों का एकताबद्ध होना हमेशा आसान होता है। राजाओं और सामन्तों का अत्याचार समाप्त करने के लिए एक होने के बाद, मध्यम वर्ग और जनसाधारण के बीच इस प्रश्न पर फूट पड़ गई कि राजनैतिक स्वतन्त्रता का व्यावहारिक रूप क्या हो। सभी मनुष्यों को अपना शासन स्वय करने का प्राकृतिक अधिकार है, इसकी व्याख्या जनसाधारण ने इस प्रकार की कि वयस्क पुरुष नागरिक प्रशासकों के चुनाव में और समाज का सचालन करने वाले कानूनों के निर्माण में हिस्सा लें। मध्यम वर्ग ने इसकी व्याख्या जान जे के शब्दों में इस प्रकार की कि "जो देश के मालिक है, उन्हे ही उसका शासन करना चाहिए।" इस सन्दर्भ मे क्रान्ति का प्रथम परिणाम यह हुआ कि सभी जगह मूलत: मध्यम वर्ग की जीत हुई। राजाओं की निरंकुश सत्ता समाप्त हुई, सामन्तों के विशेषाधिकार पूर्णत या अधिकाश समाप्त हो गए। लेकिन राजनैतिक स्वतन्त्रता—प्रशासको को चुनने का, और समाज का संचालन करने वाले कानून बनाने का अधिकार—उन्ही लोगो तक सीमित रहा, जिनके पास सम्पत्ति थी। मोर्चाबन्दी

करने के बाद जनसाधारण का काम खतम हो गया था, और उन्होने देखा कि जिसे ग्विजाट ने 'राजनैतिक देश' कहा था, उससे वे अब भी बाहर ही है।

इस प्रकार जनता की सहायता से राजाओं और सामन्तों को सत्ता से स्थान-च्युत करने के बाद, मध्यम वर्ग तत्काल ही राज्य का नियन्त्रण करने मे सामन्तों के साथ मिल गया। जनसाधारण को राजनैतिक अधिकारों से वंचित रखने मे उनके हित सामान्य थे, किन्तु 'राजनैतिक देश' के अन्दर सत्ता और शक्ति की प्रतियोगिता मे उनके अलग-अलग हितों को आगे बढाने के लिए दो राजनैतिक दलो का उदय हुआ जिन्हे हम अनुदारवादी और उदारवादी कह सकते है, यद्यपि विभिन्न देशो मे उनके नाम अलग-अलग रहे हैं। अनुदारवादी दलो में अधिकाश भूस्वामी सामन्त, संस्थापित चर्चों के धर्माधिकारी, ऊचे अफसर, और राजदरबारो के साथ सम्बद्ध लोग थे। कुछ देशो मे वे राजतन्त्र के कट्टर समर्थक थे, और प्रारभ मे उनके अन्दर यह निष्फल आशा विद्यमान थी कि वे पुराने शासन को पुन स्थापित कर सकेंगे। किसी भी सूरत मे, वे पूजी के विरुद्ध भूमि के हितों का, रूढ़िविरोधी धर्मों के विरुद्ध संस्थापित चर्चों का, लोकतात्रिक व्यवहार के समानता लाने वाले प्रभाव के विरुद्ध पुराने सामाजिक विभेदो और सामन्ती प्रतिष्ठा का समर्थन करते थे। उदारवादी दलों में शिक्षित और सम्पन्न मध्यम वर्गों के लोग थे—व्यापारी, विभिन्न देशो के लोग, मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवी, सम्भवत. कुछ उदारवादी अभिजात वर्ग के लोग। मध्य स्थिति ग्रहण करके उदारवादी दल दो मोर्चों पर लडते थे—वे निरकुशता और लोकतन्त्र दोनो के समान रूप से विरोधी थे, इसलिए राजाओं

और सामन्तों के विरुद्ध वे स्वतन्त्रता के समर्थक थे, तथा जनता के विरुद्ध वे स्वयं अपने नए-नए प्राप्त विशेषाधिकारों के समर्थक थे।

इस स्थिति में एक तीसरे राजनैतिक दल का उदय हुआ—जिसके गणतन्त्रवादी, प्रगतिशील उदारवादी, उग्रपन्थी आदि कई नाम थे—जिसे हम सुविधा की दृष्टि से लोकतन्त्रवादी कह सकते है। लोकतन्त्रवादी दल उनका प्रतिनिधित्व करता था, जो अब भी 'राजनैतिक देश' से बाहर थे—पहले-पहल विशेष रूप में औद्योगिक मजदूर, जो सबसे अधिक पीड़ित थे, और जिनमें वर्ग-चेतना सबसे पहले आई। सामान्यतः इनके नेता मध्यम वर्गीय बुद्धिजीवी थे, जिन्होने इनके लिए एक सिद्धान्त और कार्यक्रम निरूपित किया। शुद्ध रूप में उदारवादी लोकतांत्रिक विचार-दर्शन उनका सिद्धान्त था, जिसे मध्यम वर्गीय उदारवादी सिद्धान्त में स्वीकार और व्यवहार में अस्वीकार करते थे—यह सिद्धान्त कि सभी मनुष्यों को अपना शासन स्वयं करने का प्राकृतिक अधिकार है। फलस्वरूप, उनके कार्यक्रम का मुख्य अंग यही था कि सभी वयस्क पुरुष नागरिकों को मताधिकार प्रदान किया जाए। उन्हें विश्वास था कि एक बार विधायकों के चुनाव मे मतदान का अधिकार मिल जाने पर मजदूर कानून के द्वारा उन आर्थिक विषमताओं को दूर कर देंगे, जिनसे वे पीड़ित थे।

समय बीतने पर, बहुतेरे निष्फल प्रयत्नों, और कुछ असफल विद्रोहों के बाद, जनसाधारण को 'राजनैतिक देश' में प्रवेश मिला—संयुक्त राज्य अमरीका में १८३० और १८४० के बीच, और यूरोपीय देशों में अधिकतर उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों मे। इसके पीछे तर्कबुद्धि और तत्कालीन

राजनीतिक प्रभाव, दोनो का ही हाथ था। तार्किक दृष्टि से, सभी मनुष्यों के स्वशासन के अधिकार का समर्थन करके राजनैतिक विशेषाधिकार प्राप्त करने वाले उदारवादियो के लिए इस तर्क का खडन करना कठिन था कि यह अधिकार कुछ विशिष्ट वर्गों को ही नही, जनसामान्य को भी मिलना चाहिए। लेकिन घटनाक्रम के पीछे विचार-दर्शन के तर्क से कही अधिक राजनैतिक रणनीति के तर्क का प्रभाव था। जब क्रान्ति को एक सम्पूर्ण हो चुकी घटना के रूप मे स्वीकार कर लिया गया, और राजाओ का भय कम हुआ, तो उच्च वर्गीय उदारवादी और अनुदारवादी दलों का परस्पर विरोध भी कम हुआ। वे आधारभूत प्रश्नो पर एकमत थे, और उनमे संघर्ष मुख्यतः मत प्राप्त करने की होड का था। यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि जो दल सबसे पहले जनसाधारण को मताधिकार प्रदान करके उन्हे प्रसन्न कर लेगा, चुनावो मे उनका समर्थन प्राप्त करने की सम्भावना भी उसी के लिए सबसे अधिक होगी। अतः, आम तौर पर, जहाँ तक यूरोपीय देशों का सम्बन्ध है, ऐसा कहना कठिन है कि जनता ने बल-पूर्वक राजनैतिक देश में प्रवेश प्राप्त किया। बहुधा ऐसा हुआ कि मतदाताओ की संख्या बढाकर अपने समर्थक मतो की संख्या बढाने की आशा से अनुदारवादी या उदारवादी दल के शासन ने उन्हे मताधिकार प्रदान किया।

बालिग पुरुषो के मताधिकार की स्वीकृति को उस समय लोकतन्त्र की एक बड़ी विजय समझा गया था। इससे निश्चय ही जनता की शक्ति कुछ बढ़ी, क्योकि इससे उच्च वर्गो के दल बाध्य हुए कि नीति-निर्धारण मे वे जनमत का ध्यान रखे, और ऐसे उपाय करे जो मतदाताओ की बहुसंख्या को आकर्षित

करें। लेकिन, सब मिलाकर, राजनैतिक अधिकार-क्षेत्र में जन-सामान्य के प्रवेश से उनकी शक्ति कम ही बढी, और वे जिन परिस्थितियों मे रहते थे, उनमे सुधार भी कम ही हुआ। राजनैतिक नियन्त्रण पहले की तरह मूलत· उच्च वर्गो के राजनैतिक दलो के हाथ में ही रहा।

इसके कई कारण बताए जा सकते है कि प्रकट रूप में विजय प्राप्त करके भी लोग उससे लाभ क्यों नहीं उठा सके। जब उन्होंने राजनैतिक अधिकार-क्षेत्र में प्रवेश किया, तो सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों पर उच्च वर्गों के लोग पहले से जमे हुए थे। प्रतिनिधि संस्थाओं के रूप और उनकी कार्य-पद्धतियाँ पहले ही निर्धारित हो चुकी थी। अधिकांश उच्च वर्गो का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनैतिक दल भली भाँति सगठित थे। उम्मीदवारों के चयन और चुनाव-संचालन की पद्धति ऐसी थी कि राजनीति एक पेशा बन गई थी, जिसमें सम्पत्ति और सामाजिक प्रतिष्ठा वाले लोग ही सफलता की पर्याप्त आशा लेकर प्रवेश कर सकते थे। सिद्धान्त में साधारण लोग इसके लिए स्वतन्त्र थे कि जो उपाय उन्हें जन-कल्याण के लिए वांछनीय प्रतीत हों, उन्हें मतदाताओं के सामने प्रस्तुत करें। लेकिन वास्तव में प्रचार के साधन केवल शिक्षित और सम्पन्न लोगों को ही पूरी तरह उपलब्ध थे। सिद्धात में गरीब आदमी अपनी पसन्द के उम्मीदवारों को मत दे सकता था। वास्तव में उसे उन्ही उम्मीदवारों में से चुनाव करना पड़ता था जो प्रभावी उच्चवर्गीय दलों का प्रतिनिधित्व करते थे। यह सच है कि आगे चलकर लोगों ने स्वयं अपने मजदूर-वर्गीय समाजवादी दल संगठित किए। ये दल बहुधा अनुदार-वादी या उदारवादी शासनों से ऐसे कार्य कराने मे सफल हो

जाते थे, जिनका उद्देश्य गरीबों के हितों की रक्षा करना होता था, किन्तु प्रभावकारी राजनैतिक नियत्रण अभी भी उन्ही लोगों के हाथ मे था, जो स्वशासन की खर्चीली विलासिता का भार आसानी से उठा सकते थे ।

राजनैतिक समानता से जनता के हितों की रक्षा न हो सकी, ये इसके ऊपरी कारण है । अधिक मौलिक कारण हमें उस समाज के आर्थिक गठन मे मिलेगा, जिसका उदय उदारवादी लोकतात्रिक क्रांति के फलस्वरूप हुआ । राजनैतिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अपर्याप्त प्रमाणित हुई, क्योंकि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के फलस्वरूप सम्पत्ति और अवसर की उतनी न्यूनतम समानता भी नही आई, जिसके बिना राजनैतिक समानता एक खोखले ढाचे से अधिक विशेष कुछ नही होती । यह एक आधारभूत प्रश्न है, अतः इसकी कुछ विस्तृत चर्चा वाछनीय है ।

३

आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आरम्भ से ही उदारवादी लोकतांत्रिक विचार-दर्शन का एक अभिन्न अंग थी; यद्यपि महान आन्दोलन-काल के प्रचार में उस पर अधिक जोर नही दिया गया था । यह आवश्यक था कि उद्योग के मार्ग मे बाधा डालने वाले एकाधिकारपूर्ण विशेषाधिकारो से और कदम-कदम पर शासकीय नियमन के प्रतिबन्धों से उसे मुक्त किया जाए, और इसके लिए यह एक अच्छा व्यावहारिक सिद्धान्त था । लेकिन इसे बिना शर्त लागू करने पर इससे केवल किसानों और मजदूरो की निम्नस्तरीय जनसंख्या के

हितों की क़ीमत पर, औद्योगिक मध्यम वर्ग को ही लाभ हो सकता था। *वेल्थ आफ़ नेशन्स* में और अन्य अंग्रेज संस्थापक अर्थशास्त्रियों की अधिक दृढ और प्रकट रूप मे अधिक वैज्ञानिक रचानओं में इस सिद्धांत को जिस प्रकार निरूपित किया गया, वह शुद्ध रूप में पूंजीपति मालिकों के व्यापारिक हितों के तार्किक समर्थन से अधिक विशेष कुछ नही था। किन्तु यह खतरनाक तथ्य बहुत दिनों तक सामने नहीं आया, क्योंकि इस सिद्धान्त का निरूपण स्वतन्त्रता के सन्दर्भ में किया गया था, जिसका जादू उस समय तक गला घोंटू प्रतियोगिता और स्त्रियों व बच्चो के साथ व्यवस्थित दुर्व्यवहार की क्रूरताओं को भी सामान्य स्वीकृति दिलाने के लिए काफी था। मजदूरों के वर्तमान कष्टो को ज्यादा आसानी से देखा और टाला जा सकता था, क्योंकि इसे प्रगति के ईश्वरीय नियम के कार्यान्वित होने का एक आवश्यक किन्तु अस्थायी सोपान माना जा सकता था। अतः औसत मानवीयतापूर्ण मध्यम वर्गीय व्यक्ति अन्य महान स्वतन्त्रताओं के साथ आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर सकता था, क्योंकि इस तरह उसके लिए स्वार्थ और परमार्थ मे मेल बिठाना बडा आसान हो जाता था। वह ऐसा विश्वास कर सकता था कि अपनी मर्जी से काम करके ही वह ईश्वर और अपने पड़ोसी दोनों की सर्वोत्तम सेवा कर सकता था। 'निजी लाभ से सार्वजनिक लाभ', यह मूल मंत्र था जिसके द्वारा सम्पन्न मध्यम वर्ग अपनी सुखमय कल्पनाओं का औचित्य सिद्ध करता था कि सभी लोग स्वतन्त्र होंगे, तो सभी लोग समान हो जाएगे, सभी लोग समान होंगे तो सभी के पास पर्याप्त धन हो जाएगा, और सभी के पास पर्याप्त

धन होगा तो फिर कोई भी अन्यायी या अमानवीय नही रहेगा।

यह अपेक्षा निश्चय ही आधारहीन थी, और सामाजिक अनुभव के प्रासंगिक तथ्यो से इसका कोई मेल नही था। अधिकतम अनुकूल परिस्थितियों मे भी, उखडे हुए और खुली प्रतियोगिता में लगे हुए व्यक्तियो का समाज उन्ही कुछ लोगों के हित में कार्य करता रहा होगा, जो सौभाग्य, बुद्धि, या अनैतिकता के फलस्वरूप धन सचित कर सके होंगे, और इस योग्य रहे होगे कि राजनीति के माध्यम से अपने हित-साधन के लिए उस धन का उपयोग कर सके—इसका अवसर हमेशा ही रहता होगा कि काफी संख्या मे एसे लोग, जो बहुत अच्छे न रहे हो, दल की सहायता करे। जीवन की आर्थिक और भौतिक परिस्थितियों मे हुए उन परिवर्तनो ने इस प्रक्रिया को और तेज तथा गहरा किया, जो बिना किसी हल्ले के हुए और उस समय जिनकी ओर बहुत कम ध्यान गया, लेकिन जिन्हे अब आधुनिक काल की औद्योगिक या प्राविधिक क्राति कहा जाता है।

प्राविधिक कहना अधिक उचित है। मानव-जाति के इतिहास मे हुई दो या तीन मुख्य क्रातियों मे से एक को व्यक्त करने के लिए औद्योगिक शब्द बिलकुल अपर्याप्त है। मनुष्य औजारो का प्रयोग करने वाला प्राणी है, और सारी सभ्यता इस बात से प्रभावित होती है कि प्राकृतिक ऊर्जा के कौन-से साधन उसे ज्ञात हैं, और उस ऊर्जा का उपयोग कर सकने के लिए वह किन यांत्रिक उपकरणों का आविष्कार कर सकता है। खोज और आविष्कार का पहला महान युग हमे प्रागैतिहासिक काल मे ले जाता है। प्राकृतिक ऊर्जा के सभी

अधिक स्पष्ट साधन—गुरुत्वाकर्षण, आग, पानी, और हवा, पालतू पशु, भूमि की उवर्रता—और उनका उपयोग करने के लिए सीधे-सादे हाथ के औजार, हथियार, वर्तन और अन्य उपकरण आदिम मनुष्य को ज्ञात थे। लगभग पाँच या छह हजार वर्ष पहले लेखन का आविष्कार होने के बाद से अपेक्षाकृत कुछ ही दिनों पहले तक, प्राकृतिक ऊर्जा के नए साधन, मामूली किस्म के विस्फोटकों और चुम्बकीय शक्ति को छोड़कर, अगर खोजे भी गए तो बहुत ही कम। और इस सारी लम्बी अवधि में उपलब्ध यांत्रिक उपकरण बहुसंख्यक और बहुत अधिक सुधरे हुए होने पर भी, मूलतः उसी कोटि के थे, जिस कोटि के उपकरणों का प्रयोग पुरातन काल से होता आ रहा था।

किन्तु अब हम लोग खोज और आविष्कार के दूसरे महान युग में जी रहे है। सत्रहवीं शताब्दी से लेकर, भाप की शक्ति, गैस, बिजली और विकिरण की खोज ने उन असंख्य औजारों व उपकरणों को, उन पेचीदा और शक्ति-शाली मशीनों को, और सूक्ष्म कार्य करने वाले उन नाजुक औजारों को सम्भव बनाया है, जो हमारे मन में आश्चर्य और प्रशंसा के भाव जगाते है। परिणाम यह हुआ है कि नई प्रविधि ने मनुष्यों को भौतिक वस्तुओं पर अभूतपूर्व नियंत्रण प्रदान करके, अठारहवी शताब्दी के अपेक्षाकृत सीधे-सादे खेतिहर समाजों को बड़े ही पेचीदा और निर्वैयक्तिक समाजों में परिवर्तित कर दिया है, जिसकी कल्पना भी उदारवादी लोकतंत्र के प्रवर्तक नही कर सकते थे—मशीनी दैत्य, जिन्हें कम से कम थॉमस जेफ़रसन अयथार्थ और अर्थहीन मानते, और जो स्वतंत्रता और समानता के सिद्धान्तों के सर्वथा

अनुपयुक्त है, कम से कम उस रूप में, जिस रूप मे जेफरसन ने इन सिद्धान्तो को समझा था।

यह कहना अनावश्यक है कि प्राविधिक क्राति का प्रभाव सामाजिक जीवन के किसी विशिष्ट पक्ष तक सीमित नही रहा। इसके विपरीत, विचार और व्यवहार के सभी रूढ रूपों पर उसका निर्णायक प्रभाव पड़ा, और अब भी पड़ता है। लेकिन यहा मुझे प्राविधिक क्राति के उस प्रभाव से मतलब है, जिसके द्वारा कुछ ही लोगो के हाथ में धन और शक्ति केन्द्रित होने की वह प्रक्रिया तेज और गहरी हुई, जिसे आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सिद्धान्त किसी भी सूरत मे आगे चलाता।

प्राविधिक क्राति का पहला और सबसे अधिक स्पष्ट प्रभाव यह हुआ है कि किसी निश्चित जनसंख्या के द्वारा, निश्चित समय मे, भौतिक वस्तुओ के रूप में जितने धन का उत्पादन किया जा सकता है, उसकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई है। उदाहरण के लिए १९१३ मे इगलिस्तान मे केवल निर्यात के लिए ही सात अरब गज सूती कपड़ा तैयार हुआ। १७५० मे इगलिस्तान की पूरी जनसख्या भी, उस समय उपलब्ध मशोनो से काम लेकर, इसका एक बहुत छोटा हिस्सा ही तैयार कर सकती थी। प्राविधिक क्राति का दूसरा परिणाम यह हुआ है कि मशीनो मे सुधार होने और उनके अधिकाधिक स्वचालित होने के फलस्वरूप, किसी निश्चित समय में धन की निश्चित मात्रा के उत्पादन मे जनशक्ति का योग अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण रह गया है। पचास वर्ष पहले, जब छपाई का सारा टाइप हाथ से लगाया जाता था, एक किताब के फर्मो को छापने, मोडने और उनकी गड्डियां

लगाने में कई व्यक्तियों के श्रम की आवश्यकता पड़ती थी। अब यह सारा काम मशीनों से हो सकता है, और कहीं अधिक शीघ्र हो सकता है। जनशक्ति की आवश्यकता बहुत कम पड़ती है, सिवाय इसके कि एक कारीगर यह देखने के लिए बैठा रहे कि मशीन में कोई खराबी तो नही आती, और वह भी अपना समय कुर्सी पर बैठे-बैठे बिता सकता है। अन्त में, प्राविधिक क्रांति का एक तीसरा परिणाम यह है कि उत्पादन के साधनों में निजी सम्पत्ति की व्यवस्था, और धन के वितरण की पद्धति के रूप में दाम-व्यवस्था के अन्तर्गत, उत्पादित धन का बड़ा हिस्सा उन लोगों को मिलता है जो मशीनों के मालिक है, या मशीनों पर जिनका नियंत्रण है, क्योंकि धन का उत्पादन मशीनों से ही होता है। मशीनों को चलाने वाले उतना ही हिस्सा पाते है, जितना वे बाजार में अपनी सेवाएं बेचकर हासिल कर सके, जहां मशीनी प्रक्रिया की आवश्यकताओं के अनुसार निर्वैयक्तिक रीति से मजदूरी तय होती है।

मैंने कहा कि 'जो मशीनों के मालिक हैं या मशीनों पर जिनका नियंयण है,' क्योंकि आधुनिक प्रविधि और व्यापार-संगठन के फलस्वरूप, जो लोग निजी सम्पत्ति के रूप में उत्पादन के साधनों के मालिक होते है, उनका हमेशा उन साधनों पर नियन्त्रण नहीं होता। सम्पत्ति का स्वामित्व अब एक बड़ी ही अमूर्त और अस्पष्ट धारणा है। बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए विशाल औद्योगिक कारखानों की जरूरत पड़ती है, जिनका प्रवन्ध सामान्यतः निगमों के हाथ में होता है, और निगमों के हिस्से पूजी लगाने वाली जनता को बेचकर उनके लिए वित्तीय व्यवस्था की जाती है। अगर मैं 'जनरल

मोटर्स' के दस हिस्से खरीदता हूँ, तो कहा जा सकता है कि मैं 'जनरल मोटर्स' की सम्पत्ति के उतने हिस्से का मालिक हूँ, लेकिन उस पर मेरा कोई नियन्त्रण नही है। सम्पत्ति का नियंत्रण उन लोगों के हाथ मे है जिनके पास हिस्सों की बहुसख्या है, और हिस्सों की बहुसख्या के मालिक आम तौर पर कुछ थोड़े-से लोग होते है। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, स्वामित्व एक कागज के टुकड़े तक सीमित है, जो मुझे यह आशा प्रदान करता है कि सम्पत्ति का नियंत्रण करने वाले समय-समय पर मुझे धन की एक रकम भेज देंगे। अगर वे ऐसा नही करते, तो मै इस सम्बन्ध मे कुछ कर नही सकता। नियंत्रक कम्पनी की पेचीदा पद्धति से नियंत्रण और भी अधिक केन्द्रित तथा स्वामित्व से और भी अधिक असम्बद्ध हो सकता है। इसमे कई निगमो पर कुछ ऐसे थोडे-से लोगों का नियन्त्रण हो सकता है, कार्यरत कम्पनियों मे जिनकी और कोई दिलचस्पी न हो, सिवाय इसके कि आर्थिक लाभ के लिए वे उनका उपयोग करें और उनके द्वारा अपने हथकंडे चलाएँ। इस प्रकार, स्थिति यह है कि उत्पादन के साधनों मे निजी सम्पत्ति का स्वामित्व तो काफी व्यापक हो सकता है, किन्तु सम्भावना यही होगी कि उस सम्पत्ति का प्रभावकारी नियंत्रण कुछ थोडे-से लोगों के हाथ मे सीमित हो।

सम्पत्ति की धारणा भी स्वामित्व की धारणा से कम अमूर्त और अस्पष्ट नही है। जनरल मोटर्स की सम्पत्ति का मूल्य केवल वास्तविक कारखाने और वित्तीय परिसम्पत्ति मे ही नही है, वरन् मूलतः एक सफल कम्पनी के रूप मे उसके व्यापार मे है। समृद्ध, सफल कम्पनी होने के लिए आवश्यक है कि निगम द्वारा श्रम और सामान ऐसे दाम पर खरीदा जाए

कि वह अपने उत्पादन को पूरे समाज में मुनाफा लेकर बेच सके। इस कारण जनरल मोटर्स का जीना या मरना केवल उसी के ही हित की बात नहीं। उसकी समृद्धि, और इस कारण उसकी सम्पत्ति का मूल्य असंख्य व्यक्तियों और व्यापार-उद्यमों की समृद्धि को प्रभावित करता है, और उससे प्रभावित होता है—सारे देश में, और सारी दुनिया मे छोटे-बड़े उद्यम जो उसकी मोटरे बेचते है, और उसे कच्चा माल, ईंधन और अन्य सामान देते है, तथा वे सारे व्यक्ति जो मजदूरों या हिस्सेदारों के रूप मे जनरल मोटर्स और उसके साथ जुड़े हुए बहुतेरे उद्यमों से सम्बद्ध है।

इस प्रकार, उत्पादन के साधनों में निजी सम्पत्ति कोई निजी मामला नही है। एक बहुत ही सुगठित और सूक्ष्म रूप में समंजित औद्योगिक ढाँचे के कार्य-चालन में, जो हर क़दम पर जनहित को प्रभावित करता है, इसका स्थान कारण और परिणाम दोनों का है। उत्पादन के साधनों मे निजी सम्पत्ति पर नियंत्रण रखने वाले थोड़े-से लोग धनी हों, यह कोई बड़ी बात नही है। महत्त्व की बात यह है कि उत्पादन के साधनों पर उनका नियंत्रण उन्हे लाखों ऐसे व्यक्तियों के जीवन और भाग्य पर अनिश्चित और निर्वैक्तिक अधिकार प्रदान करता है, जिन्हे वे जानते भी नही—ऐसा अधिकार जिसका प्रयोग वे अधिकतर जनहित में नही कर सकते, और कभी-कभी करना चाहते भी नही।

किसी भी समाज मे आर्थिक शक्ति और राजनैतिक शक्ति में निकट सम्बन्ध होना अनिवार्य है। किसी भी समाज में, जिनके हाथ में आर्थिक शक्ति होती है, उनमे अन्य लोगों की भाँति ही यह प्रवृत्ति होती है कि अपने आर्थिक हितो को

सामान्य कल्याण से एकरूप माने और राजनीति व प्रचार की व्यवस्थाओं का उपयोग अपने हितो को आगे बढ़ाने के लिए करे। किन्तु लोकतांत्रिक राजनैतिक नियंत्रण और स्वतन्त्र आर्थिक उद्यम के सिद्धान्त पर आधारित आधुनिक औद्योगिक समाजों मे, उत्पादन के साधनों मे निजी सम्पत्ति से लाभान्वित होने वालों के लिए जनमत का निर्माण करना और अपनी मर्जी के कानून बनवाना विशेष आसान होता है। उनकी इस शक्ति के पीछे इस तथ्य का प्रभाव उतना नही होता कि वे इन उद्देश्यों के लिए खुलकर खर्च कर सकते है और करते है। वरन् उनकी शक्ति मुख्यतः इस कारण है कि राजनैतिक कार्य-पद्धति और प्रचार के माध्यम औद्योगिक व्यवस्था के साथ इस तरह अभिन्न रूप मे जुड़े हुए है कि कानून और जनमत पर बहुत-कुछ अपने आप ही स्वतन्त्र उद्यम की व्यवस्था के दबाव की प्रतिक्रिया होती है, और वह व्यवस्था ही उनकी शक्ति का स्रोत है।

लोकतान्त्रिक समाजो मे राजनैतिक शक्ति राजनैतिक दलों के माध्यम से व्यक्त होती है, जो मुख्यतः चुनाव जीतकर शासन पर नियत्रण प्राप्त करने के उद्देश्य से संगठित किए जाते है। निस्सन्देह, चुनाव जीतने के लिए किसी भी राजनैतिक दल को विधि-निर्माण का ऐसा कार्यक्रम निरूपित करना पडता है, जो मतदाताओं को आकर्षित करे। लेकिन चुनाव केवल कार्यक्रम के गुणावगुणो के आधार पर नही जीते जाते। चुनाव जीतना व्यवहारत एक व्यावसायिक उद्यम है, जिसमे चुनाव-कोष के रूप मे पूजी-विनियोग की, और कर्मचारियों के एक पेचीदा सगठन की जरूरत पडती है—एक राजनैतिक सयत्र, जिसका प्रबन्ध पेशेवर राजनीतिज्ञो के हाथ मे होता है, जिनका काम होता है कि मत प्राप्त करे। चुनाव-कोष मे लोग स्वार्थवश,

या नि.स्वार्थ भाव से चन्दा दे सकते है, लेकिन सबसे अधिक योग सामान्यत: धनी व्यक्तियों अथवा निगमों का होगा, जो बदले मे यह उम्मीद करेंगे कि वे जिस प्रकार के क़ानून बनवाना चाहेंगे, सम्बन्धित दल कम से कम उनके बारे में पूर्णत: उदासीन नही रहेगा।

पेशेवर राजनीतिज्ञ का काम मत प्राप्त करना रहता है, और उसकी दिलचस्पी मुख्यत: उन लोगों के मतों में होती है, जिनकी दल के प्रति निष्ठा दलीय कार्यक्रम के गुणों से अधिक इस पर निर्भर होती है कि दल उन्हे कहाँ तक ठोस लाभ पहुँचाने को तैयार है। सबसे ऊंची सीढी के राजनीतिज्ञ का काम यह होता है कि वह लाभों का बंटवारा करे, नियुक्ति वाले पदों को उन लोगों में वितरित करे जो दल की सेवा सबसे अच्छी तरह कर सकते हों। सबसे निचली सीढी के राजनीतिज्ञ—क्षेत्र के चरित्रहीन संगठनकर्ता—का काम ऐसा होता है जिसे प्रतिष्ठित नेता सामाजिक नियमों के भय से स्वयं नहीं कर सकते, लेकिन जानते है कि उसे करना जरूरी है, अर्थात् इसका ध्यान रखना कि गरीब और वंचित लोगों को जीवन-निर्वाह के न्यूनतम साधन प्राप्त हों, और उनके निजी धन्धों में क़ानून की शक्ति बहुत अधिक बाधा न पहुँचाए, चाहे उनके धन्धे कभी-कभी कानून के ख़िलाफ ही क्यो न हों। मत प्राप्त करने मे हल्के का सगठनकर्ता राजनैतिक 'दादा' के अधीन होता है, राजनैतिक 'दादा' का आवश्यक सम्पर्क दल के उन नेताओं से रहता है जो चुने गए या नियुक्त पदाधिकारी होते हैं; और इन राजनैतिक नेताओं का आवश्यक निजी और सामाजिक सम्पर्क उन व्यापारियों से होता है जो चुनाव-कोष में उदारता से चन्दा देते है। हर छोटे-बड़े समाज

में राजनैतिक और आर्थिक शक्ति का यह अव्यक्त, और गुप्त गठजोड़ होता है। फलस्वरूप जनमत में किसी अप्रत्याशित नैतिक उभार के मौकों को छोडकर, कानूनों पर हमेशा ही अनजाने मे प्रभावी और औद्योगिक हित के दवाव का प्रभाव पडता है, और राजनेता हमेशा इन कानूनों का समर्थन सामान्य हित के नाम पर करते है।

कानूनों का रूप निर्धारित करने के समान ही जनमत का निर्माण करना भी सामान्य नागरिको की अपेक्षा उन लोगों के लिए कही ज्यादा आसान होता है, जो आर्थिक शक्ति से सम्पन होते हैं। इसका यह अर्थ नही कि लोकतान्त्रिक समाजों में भाषण की और अखवारो की स्वतन्त्रता होती ही नही। लोकतांत्रिक और अलोकतांत्रिक समाजों की तुलना करते ही यह वात दिखाई पड जाती है कि यह स्वतंत्रता वास्तविक और महत्त्वपूर्ण रूप मे मौजूद रहती है। लोकतान्त्रिक समाजों में कोई भी व्यक्ति स्वतंत्रापूर्वक अपना मत व्यक्त कर सकता है, और उसे इस बात का कोई डर नही होता कि कोई सरकारी जासूस उसकी बात सुन तो नही रहा। कोई भी व्यक्ति विना पहले सरकारी सैन्सर कराए, कोई पुस्तक या समाचारपत्र प्रकाशित कर सकता है। यह एक आधारभूत महत्त्व का अधिकार है, और इधर-उधर कही नागरिक स्वतन्त्रताओ का हनन होने पर भी, उसकी गभीरता और अवांछनीयता को स्वीकार करते हुए, इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि अखबारों और रेडियो के द्वारा घटनाओ के सम्बन्ध मे विस्तृत सूचनाएँ और बहुत ही भिन्न प्रकार के मत, बिना किसी विशेष बाधा के नित्य और प्रतिदिन लोगो के सामने आते है।

फिर भी, औसत व्यक्ति यद्यपि अपने विचारों को व्यक्त

करने के लिए स्वतंत्र होता है, किन्तु जनमत का निर्माण करने में उसकी भूमिका बिल्कुल गौण होती है। उसकी भूमिका किसी कार्य को आरम्भ करने की नही होती, वरन् वह निष्क्रिय रूप में दूसरों के द्वारा प्रस्तुत की गई सूचनाएँ और विचार ग्रहण करता है। आधुनिक परिस्थितियों में प्रभावकारी होने के लिए, सामाजिक या राजनैतिक मत के प्रचार का संगठित होना आवश्यक है। और प्रचार करने वाले अगर बड़े पैमाने पर अपनी सामग्री का उत्पादन और वितरण नहीं करते, तो उन्हें विशेष सफलता नही मिलेगी। प्रचार के मुख्य साधन—अखबार और रेडियो—औसत नागरिक को आसानी से उपलब्ध नहीं होते कि उनके द्वारा वह अपनी बात फैला सके। शासन, राजनैतिक दल और दल-नेता, प्रमुख संगठन, धनी व्यक्ति और व्यापारिक निगम, विशिष्ट उद्देश्यों के लिए बने संगठन, और ऐसे लेखक जिनकी पुस्तकें प्रकाशकों द्वारा छापने योग्य समझी जाती हैं, यही लोग इन साधनों का प्रभावकारी रीति से उपयोग कर सकते हैं।

इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि प्रचार के उपकरण स्वयं भी व्यापारिक निगम होते है, जो लाभ के लिए धन लगाकर संगठित किए जाते है, और इस कारण उन प्रभावों के अधीन होते है जो स्वतन्त्र आर्थिक उद्यम की व्यवस्था को प्रभावित करते है, और स्वय उससे प्रभावित होते है। समाचारपत्र उन सारे समाचारो को छापने के लिए स्वतंत्र होते है जो छापने लायक़ हों, लेकिन वे निरन्तर ऐसे विचारो को प्रचारित नही कर सकते, जो व्यापारिक हितों को उनका विरोधी बना दे, क्योंकि उनके द्वारा दिए गए विज्ञापन ही समाचार-पत्रों को इस योग्य बनाते है कि वे अपने हिस्सेदारों

को लाभाँश दे सके। रेडियो प्रसारण निगम सरकारी सैन्सर से मुक्त है, या बडी सीमा तक मुक्त है, और वड़ी सीमा तक जो चाहे प्रसारित करने को स्वतत्र हैं। लेकिन अन्ततोगत्वा वे ऐसी कोई चीज प्रसारित नही करेंगे जिसमें स्वीकृत मान्यताओं का, या ऐसे व्यापारिक उद्यमों का गंभीर विरोध हो, जो कम से कम इस देश मे मनोरजन के अपने कार्यक्रम चलाते है और उसके लिए धन देते है। लोकतांत्रिक समाजो में स्वतंत्र और निष्पक्ष चर्चा की अनुमति होती है, और ऐसी चर्चा होती भी है, जिससे अपेक्षा की जाती है कि सत्य सामने आ जाएगा। किन्तु औसत व्यक्ति के विचार बहुत-कुछ उन तथ्य सम्वन्धी प्रचुर जानकारी द्वारा और उन विरोधी मतों द्वारा निर्धारित होते है, जिन्हे प्रतियोगी व्यापार उद्यम की चयन प्रक्रिया उसके सामने विचारार्थ प्रस्तुत करती है—जानकारी जिसकी सच्चाई को वह जाँच नही सकता, और ऐसे लोगों द्वारा प्रस्तुत मत जिन्हे वह नही जानता, और जो वहुत अधिक अवसरों पर ऐसे निजी आर्थिक हितों से प्रेरित होते है, जो कभी सामने नही आते।

मोटे तौर पर, ये परिस्थितियाँ है जिनके सन्दर्भ में लोकतंत्र के आदर्श और यथार्थ रूपों के गभीर अंतर को समझा जा सकता है। आदर्श के अनुसार, उदारवादी लोकतान्त्रिक क्राति से एक अपेक्षाकृत सरल समाज का उदय होना चाहिए था, जिसके स्वतत्र, समान और समृद्ध नागरिक, तर्कपूर्ण चर्चा और पारस्परिक रियायतो के द्वारा सामान्य कल्याण की प्राप्ति के लिए भाईचारे के साथ एक-दूसरे से सहयोग करते। वास्तव में, एक बहुत ही पेचीदा समाज का उदय हुआ, जिसमे बडी ही उलझी हुई और निर्वैयक्तिक शक्तियो ने, जो सद्-

भावना या संकल्प या तार्किक दिशा से अधिक सबल थी, कुछ थोड़े-से भाग्यशाली व्यक्तियों के हाथ मे धन और शक्ति को अधिकाधिक केन्द्रित कर दिया। और इस प्रकार, बहुसंख्यक जनता के लिए उन मूल स्वतंत्रताओं में से ही कइयों को नष्ट कर दिया, जिनमें लोकतांत्रिक सस्थाओं का सैद्धान्तिक औचित्य है, और जो उनकी व्यावहारिक सफलता की आवश्यक शर्त भी है।

यह अन्तर, जिसे विवेकशील लोगों ने बहुत पहले ही देख लिया था, हमारे काल में इतना तीव्र हो गया है कि बहुतेरे देशों में आदर्श को भ्रम मानकर उसका परित्याग कर दिया गया है। इन देशों मे अब नए सामाजिक दर्शनों का चलन है, जिनके अनुसार न केवल आर्थिक क्षेत्र में, वरन् राजनैतिक और बौद्धिक क्षेत्र में भी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धान्त को लागू करने की चेष्टा एक मौलिक भूल थी, और आज जो सामाजिक और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष दुनिया को पीड़ित और परेशान कर रहे है, उनकी जिम्मेदारी इसी पर है।

इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने का मतलब है कि लोकतांत्रिक सस्थाओं का जो रूप हमें ज्ञात है, उसका अन्त, और व्यक्ति की महत्ता और गरिमा में जो विश्वास हमें रहा है, यद्यपि कार्यरूप मे वह हमेशा व्यक्त नही हुआ, उसका परित्याग। मैं इस दृष्टिकोण को स्वीकार नही करता। मेरा विश्वास है कि आगे चलकर यह ग़लत साबित होगा—किसी ऐसी जीवन-विधि के लिए घातक, जिसे सभ्य कहना उचित होगा। लेकिन मेरा यह भी विश्वास है कि लोकतांत्रिक जीवन-विधि को अगर कायम रहना है, तो हमें स्वतत्रता की परम्परागत धारणा को अधिक ठोस अर्थ-प्रदान करना होगा। व्यक्ति-

गत स्वतन्त्रता की परम्परागत धारणा मूलत. नकारात्मक है। उसका आग्रह प्रतिबन्ध से मुक्ति पर है, वस्तुतः एक विशिष्ट प्रकार के प्रतिबन्ध, अर्थात् शासकीय प्रतिबन्ध से मुक्ति। आर्थिक क्षेत्र मे व्यक्ति को शासकीय प्रतिबन्ध से मुक्त करने का परिणाम यह हुआ है कि आज ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिनके उन ठोस वस्तुओं से वञ्चित हो जाने का खतरा बराबर बना रहता है, जिनके विना शासकीय प्रतिबन्ध से मुक्ति का कोई मूल्य नही। औसत व्यक्ति की आवश्यकता आज यह है कि उसे स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा, ऐसे कार्य मे जिसके लिए वह उपयुक्त हो, आर्थिक सुरक्षा प्राप्त करने का अवसर मिले, जिसके बिना अच्छा और स्वतंत्र जीवन सभव नही होता। काम करने वाली जनसंख्या के लगभग एक चौथाई हिस्से को अब यह अवसर उपलब्ध नही। मेरी राय मे उन्हें यह अवसर दोबारा अगर प्राप्त हो सकता है तो इसी तरह कि हमारी अर्थ-व्यवस्था का जहां तक आवश्यक हो, शासकीय नियमन किया जाए, ताकि निजी आर्थिक उद्यम प्रभावकारी रीति से, और सामान्य कल्याण के हित मे कार्य कर सके।

अतः अगर लोकतान्त्रिक जीवन-विधि को कायम रहना है, तो हमे व्यक्तिगत स्वतंत्रता के उन रूपों को, जो उसके लिए आवश्यक है, उन रूपों से अलग करना होगा, जो अनावश्यक या हानिकारक है। मोटे तौर पर, आवश्यक रूप वे है, जो व्यक्ति को अपने बौद्धिक और राजनैतिक क्रियाकलाप में प्राप्त है। अपने आर्थिक क्रियाकलाप मे व्यक्ति को अब तक जो अपेक्षतया निर्बन्ध स्वतंत्रताएँ प्राप्त रही है, वे अनावश्यक है। सिद्धान्त रूप मे इस प्रकार का अन्तर करना अपेक्षाकृत

आसान है, किन्तु इस पर अमल करना बहुत ही कठिन होगा। एक बड़ी कठिनाई इस तथ्य से उत्पन्न होती है कि परम्परागत विचार-दर्शन में, राजनैतिक, बौद्धिक और आर्थिक क्षेत्रों में व्यक्ति की स्वतन्त्रताएं परस्पर इस तरह जुड़ी हुई हैं कि वे एक साथ ही टिकती या खतम होती प्रतीत होती है। परिणाम यह है कि शासन-सत्ता द्वारा स्वतंत्र आर्थिक उद्यम के नियमन के किसी प्रस्ताव का निश्चय ही इस आधार पर विरोध किया जाएगा कि अगर स्वतंत्र आर्थिक उद्यम की व्यवस्था को क़ायम नहीं रखा जा सकता, तो लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के अन्य रूपों, विचार की स्वतंत्रता और राजनैतिक स्वतंत्रता, का भी अन्त में परित्याग करना पड़ेगा। यह सच है अथवा नही, इसे घटनाक्रम ही प्रमाणित कर सकता है। जो भी हो, सभी लोकतांत्रिक समाजों के समक्ष जो कठिन किन्तु आवश्यक कार्य है, उसे इन शब्दों में रखा जा सकता है—आर्थिक उद्यम में व्यक्ति की स्वतंत्रता को व्यवहार में किसी प्रकार इतना काफ़ी कम करें कि अवसर और सम्पत्ति की वह समानता आ सके, जिसके बिना लोकतंत्र केवल एक खोखला ढाँचा है, और इसके साथ ही बौद्धिक और राजनैतिक जीवन में व्यक्ति की स्वतंत्रता को उस मात्रा तक क़ायम रखें, जिसके विना लोक-तंत्र जीवित नही रह सकता। इस समस्या के कुछ पक्षों पर हम अंतिम भाषण में विचार करेंगे।

तीन

द्विविधा

पाला—अनाज को नहीं !
सूखा—नदी-नालों में नहीं !
सडन वर्षा से नही !

कौन गुप्त छाया या
अदृश्य हाथ हमारे बीच है, जो
निरन्तर हमारे चेहरों को विकृत करता है ?

आर्चिबल्ड मैक्लीश

२

आधुनिक लोकतान्त्रिक समाजों की समस्या, जिसे मैने अभी निरूपित किया, दूसरी तरह भी रखी जा सकती है—लोकतान्त्रिक समाजो मे इस समय विद्यमान, सम्पत्ति तथा अवसर की तीव्र असमानता को क्या लोकतान्त्रिक पद्धित से दूर किया जा सकता है ? अगर नही, तो परिणामस्वरूप जो असतोष और अव्यवस्था उत्पन्न होगी, जल्दी या देर से, उसका अन्त निश्चय ही किसी प्रकार की क्रातिकारी या सैनिक तानाशाही मे होगा । अत· लोकतान्त्रिक समाजो के समक्ष द्विविधा अब यह है—या तो वे लोकतान्त्रिक पद्धति से आर्थिक समस्या को हल करे, या फिर लोकतान्त्रिक समाजो के रूप मे खतम हो जाएँ ।

स्पष्ट है कि समस्या का आन्तरिक रूप आर्थिक है । इस समय यह बेकारी के रूप मे है, जिसकी ओर तत्काल ध्यान जाता है । पिछले दस वर्षो से, सर्वाधिक समृद्ध लोकतान्त्रिक समाजो मे काम करने योग्य जनसंख्या का दस से बीस प्रतिशत तक भाग ऐसा है जो आम तौर पर काम करने को तैयार है, लेकिन उसे काम मिलता नही, और उसे निजी अथवा सार्वजनिक दान द्वारा अथवा विशेष रूप मे इस उद्देश्य से शुरू किए गए कामों के द्वारा जीवित रखा गया है । बेकारी कोई नई चीज नही है, लेकिन लोकतान्त्रिक समाजो मे इसने पहले कभी एक प्रमुख सामाजिक सकट का रूप धारण नही किया ।

इस संकट को ईश्वरेच्छा कहकर नहीं छोड़ा जा सकता, मनुष्य के नियंत्रण से बाहर, प्राकृतिक शक्तियों को इसके लिए जिम्मेदार नही ठहराया जा सकता। लोग भूखे है, लेकिन अकाल नहीं पड़ा है। इसके विपरीत धन की बहुलता है, या होनी चाहिए। हमारे प्राकृतिक साधनों, जन-शक्ति, और प्राविधिक उपकरणों को देखते हुए कम से कम इस देश मे, इतना पर्याप्त धन उत्पन्न किया जा सकता है कि सभी लोगों को जीवन की आवश्यकताओं के अतिरिक्त आराम और विलास की भी बहुतेरी इच्छित वस्तुएं उपलब्ध हों। किन्तु मानवीय आवश्यकताओं की माँग निरन्तर और व्यापक होने पर भी, प्राविधिक उपकरणों के केवल एक हिस्से का ही उपयोग होता है, जनशक्ति का एक हिस्सा बेकार रहता है। बहुलता के देश में लाखों कंगाल हैं। जाहिर है कि इस स्थिति के पीछे धन उत्पादन की सभावनाओं का अभाव नही है, वरन् धन के उत्पादन और वितरण की पद्धति का कोई दोष है। दोष गंभीर है, यह एक सरल, व्यंग्यपूर्ण तथ्य से ही प्रकट हो जाता है—यह तथ्य कि लाखो कंगालों से भरी दुनिया में, यह आवश्यक समझा जाता है, और धन के उत्पादन और वितरण की वर्तमान व्यवस्था में सचमुच आवश्यक प्रतीत भी होता है, कि लोगों को भूखों मरने से बचाने के लिए, जीवन की आवश्यकताओ का उत्पादन सीमित रखा जाए।

धन के उत्पादन और वितरण की वर्तमान व्यवस्था को पूँजीवादी व्यवस्था, प्रतियोगी व्यवस्था, दाम व्यवस्था, स्वतंत्र उद्यम व्यवस्था, निर्बन्ध व्यापार व्यवस्था जैसे विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसका सैद्धान्तिक औचित्य उदारवादी-लोकतान्त्रिक विचार-दर्शन की सामान्य मान्यता में है—यह

मान्यता कि सामाजिक कल्याण का सर्वोत्तम उपाय यह है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता मे शासकीय हस्तक्षेप को कम से कम कर दिया जाए। इस मान्यता का सर्वोत्तम निरूपण जान स्टुअर्ट मिल ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध *ऑन लिबर्टी* में किया है। उन्होंने कहा कि दूसरों को क्षति पहुँचाने से कुछ व्यक्तियो के कार्यों को रोकने के लिए जब यह स्पष्टतः आवश्यक हो, ऐसे अवसरों को छोडकर, व्यक्ति के कार्यों में शासन का हस्तक्षेप कभी भी उचित नही है। मनुष्य के अधिकार-सम्बन्धी फ्रासीसी घोषणा-पत्र मे यह सिद्धान्त इसी प्रकार, किन्तु अधिक सूत्र-रूप मे निरूपित किया गया है : "स्वतंत्रता हर किसीका यह अधिकार है कि वह ऐसा कुछ भी करे जिससे दूसरों को क्षति नही पहुंचती।"

आर्थिक क्षेत्र मे लागू करने पर, इस सिद्धान्त का यह अर्थ लगाया गया कि व्यक्ति को अपना कार्य या व्यापार चुनने मे, निजी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय के लिए स्वतंत्रतापूर्वक अनुबन्ध करने मे, और निजी सेवाओं को बेचने या खरीदने में अधिकतम स्वतत्रता प्राप्त हो। यह मान लिया गया कि ग्रहणशीलता की मानवीय वृत्ति की सहायता से, व्यक्तिगत स्वत स्फूर्ति की खुली क्रिया के फलस्वरूप धन का उत्पादन अधिकतम होगा। ऐसा समझा गया कि प्रतियोगिता की भावना माँग और पूर्ति के नियम के माध्यम से, और उसके फलस्वरूप चलने वाली दाम-व्यवस्था के माध्यम से काम करेगी, और इसके फलस्वरूप, मनुष्यों के प्राकृतिक गुण-दोषो की सीमाओ के अन्दर धन का यथासभव समानतापूर्ण बटवारा होगा। इस व्यवस्था मे शासन का काम केवल इतना ही था कि निजी सम्पत्ति के अधिकारो को परिभाषित और

सुरक्षित करे, अनुबन्ध के नियमो को लागू करे, और समाज व्यवस्था को कायम रखे। खेल के नियम तय करके, शासन इसका ध्यान रखे कि उनका पालन हो, लेकिन अन्यथा वह खेल में हस्तक्षेप न करे। खेल चले, और जो सबसे अच्छा हो, वह जीते। *निर्बन्ध व्यापार—निर्बन्ध आवागमन।*

एक व्यापक धारणा के विपरीत, निर्बन्ध व्यापार का सिद्धान्त सचमुच, कभी पूरी तरह व्यवहार मे नही आया। वह सुखमय, कल्पित समय, जब शासन-व्यापार मे दखल देकर व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नही करता था, वस्तुत. कभी था ही नही। निजी सम्पत्ति की व्यवस्था स्वय ही व्यापार उद्यम का, एक वडा ही गंभीर नियमन है, अनुबन्ध का नियम व्यक्ति की स्वतंत्रता मे एक मौलिक हस्तक्षेप है। लेकिन हम निजी सम्पत्ति और अनुबन्ध के नियम को व्यवस्था का एक अंग मान ले, तो भी ऐसा समय कभी भी नही रहा, जब मिल की प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार, शासन ने कुछ व्यक्तियो के कार्यो मे इसलिए हस्तक्षेप करना आवश्यक न पाया हो कि वे कार्य दूसरों को क्षति न पहुंचाए।

इंगलिस्तान में निर्बन्ध व्यापार की प्रवृत्ति पूर्णता तक पहुंचने के पहले ही उलट गई। अनाज के आयात पर प्रतिबन्ध लगाने वाले कानूनो को रद्द करके १८४६ मे इस सिद्धान्त को आधिकारिक मान्यता दी गई थी। लेकिन उसके एक दशक पहले ही, स्त्रियो और बच्चों की सुरक्षा के लिए प्रथम फैक्टरी अधिनियमो द्वारा स्वतंत्र उद्यम पर प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक पाया गया था। तब से अब तक इगलिस्तान में, और अमरीका सहित हर औद्योगिक देश में, निजी सम्पत्ति, मुक्त प्रतियोगिता, स्वतत्र अनुबन्ध, वस्तुओं के दाम, श्रम, सम्पत्ति का उत्तरा-

धिकार, और उससे होने वाली आय की व्यवस्था मे शासकीय नियमन बराबर बढ़ता ही गया है। शासकीय नियमन का यह विस्तार, जिसे सामाजिक कानून कहा जाता है, उसकी ओर यह प्रवृत्ति, श्रम सगठनो के दवाव का परिणाम थी, जिन्हे समाज की मानवीय भावनाओ का समर्थन प्राप्त था। इसके पीछे यह व्यक्त या अव्यक्त मान्यता है कि निर्बन्ध व्यापार की व्यवस्था, जो धन के उत्पादन को बढाने में बहुत ही सफल रही है, विना शासकीय नियमन के, उसके वितरण की समानतापूर्ण अथवा सहनीय व्यवस्था भी नही कर सकती। शासन को व्यापार उद्यम मे हस्तक्षेप करना चाहिए अथवा नही, यह पूछने का अब समय नही रहा। शासन हमेशा व्यापार उद्यम में हस्तक्षेप करता रहा है। प्रासगिक प्रश्न केवल यही है कि वह किस हद तक, और किस प्रकार हस्त-क्षेप करे।

शासकीय नियमन बढते जाने पर भी निर्बन्ध व्यापार के सिद्धान्त को कभी छोडा नही गया। लोकतान्त्रिक समाजो में स्वीकृत मान्यता यह थी, और अब भी है कि शासकीय हस्त-क्षेप को न्यूनतम होना चाहिए, चाहे किसी स्थिति विशेष मे यह न्यूनतम कितना भी अधिक हो। यह मान लिया गया था कि उत्पादन के साधनो मे निजी सम्पत्ति, स्वतंत्र उद्यम, और प्रतियोगी व्यवस्था, ये समाज के आर्थिक गठन के निश्चित आधार है। सामाजिक कल्याण के कानूनो को प्रति-कूल परिस्थितियो मे की गई सीमित रियायत ही माना गया, भले ही यह रियायत आवश्यक हो। ऐसा माना गया कि ये कानून छोटे-मोटे सशोधन है, जो व्यवस्था की क्षमता को बढाएंगे, किन्तु उसे मूलतः कोई क्षति नही पहुंचेगी। प्रथम

महायुद्ध के पूर्व के आशा भरे दशक में वस्तुत: सामाजिक कल्याण के कानूनों को बहुत-से लोग किसी अर्थ में स्वतंत्र उद्यम की व्यवस्था का एक अभिन्न अंग मानने लगे थे। समाजवाद के विध्वंसक सिद्धान्त के विरुद्ध यह एक प्रकार का बीमा था, हेनरी जार्ज ने जिस प्रगति और गरीबी का प्रभाव-कारी वर्णन किया था, उसे ऐसी प्रगति और समृद्धि में बदलने का पूर्वनिश्चित और शांतिपूर्ण साधन था, जिसकी भविष्य-वाणी लोकतत्र के पैगम्बर बड़े विश्वासपूर्वक कर गए थे।

महायुद्ध के बाद से यह विश्वास बहुत घट गया है कि स्वतंत्र उद्यम की व्यवस्था को सामाजिक कल्याण के कानूनों द्वारा ठीक-ठाक किया जा सकता है। व्यापार उद्यम में शासकीय हस्तक्षेप के इतिहास की एक शताब्दी को देखते हुए यह स्पष्ट है कि नियमन ने छोटी-छोटी बुराइयों को दूर करने में तो बहुत कुछ किया है, किन्तु धन के उचित वितरण की आधारभूत समस्या को हल करने में वह अब तक असफल रहा है। इसके विपरीत, धन के वितरण की समस्या हेनरी जार्ज के समय से अधिक गंभीर, अधिक तीव्र है, यहाँ तक कि प्रगति और गरीबी की विषमता अगर पहले की अपेक्षा कम स्पष्ट है, तो उसका एकमात्र कारण यही है कि गरीबी तो अधिक स्पष्ट है, किन्तु प्रगति उतनी निश्चित नही है।

अत: बहुत पहले उठाया गया यह प्रश्न अनिवार्य ही हर रोज अधिक तीव्र होता जाता है—क्या किसी भी मात्रा में शासकीय नियमन के द्वारा, निजी सम्पत्ति और स्वतत्र उद्यम की वर्तमान व्यवस्था के अन्तर्गत, धन के उत्पादन और वितरण की समस्या को हल किया जा सकता है? संक्षेप मे, निजी सम्पत्ति की व्यवस्था के दोष ऊपरी हैं या मौलिक?

२

पूजीवादी व्यवस्था के दोष मौलिक है, यह उन सिद्धान्तो का कथन है, जिन्हे समाजवाद और साम्यवाद कहा जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखे, तो समाजवाद और साम्यवाद का जिक्र हमे प्लेटो के काल मे भी मिलता है। लेकिन अपने आधुनिक रूपों मे उनका जन्म कार्ल मार्क्स द्वारा पिछली शताब्दी के मध्य मे निरूपित सिद्धान्तों से हुआ है।

मार्क्स का समाजवाद धन का उचित वितरण कर सकने में लोकतान्त्रिक संस्थाओ की असफलता से प्रेरित था, और मूलतः प्रगति के आधुनिक सिद्धान्त की ही पुनर्व्याख्या करता था। इसमें एक सामाजिक दर्शन के साथ एक इतिहास-दर्शन भी था। सामाजिक सिद्धान्त के रूप में इसकी मान्यता थी कि सामाजिक संगठन का रूप किसी भी समय मूलत धन के उत्पादन और वितरण की पद्धति से निर्धारित होता है, और तत्कालीन विचार और संस्थाए ऐसी होती है जो उस वर्ग के हितों की रक्षा करने के लिए सर्वाधिक उपयोगी हों, जो धन के मुख्य रूपों के स्वामित्व और नियंत्रण के द्वारा सामाजिक संगठन को स्वयं अपने हित मे संचालित करता है। इतिहास-दर्शन के रूप मे उसकी मान्यता थी कि सामाजिक परिवर्तन या प्रगति विचारो के सघर्ष का फल नही होती, वरन् आर्थिक शक्तियो के टकराव का, शासक और वंचित वर्गो के आर्थिक हितों के टकराव का फल होती है। विचारों की प्रभाव-शक्ति के द्वारा नही, वरन् आर्थिक स्थितियो के वस्तुपरक दबाव के द्वारा ही शासक वर्ग कभी स्थानच्युत हो सकेगा, अथवा उन सस्थाओ और विचारो को बदला जा

सकेगा, जिनके द्वारा उसकी शक्ति कार्य करती है।

इस सिद्धान्त को यूरोपीय इतिहास पर लागू करके मार्क्स ने देखा कि उदारवादी लोकतांत्रिक क्रांति भूस्वामी अभिजात-वर्ग और उठते हुए पूजीपति वर्ग के आर्थिक हितों मे टकराव के फलस्वरूप हुई थी। इसमें झूठे विचारों पर सच्चे विचारों की विजय नही, वरन् उत्पादन के प्रमुख तत्त्व के रूप में भूमि के ऊपर पूजी की विजय परिलक्षित होती थी। और उदार-वादी लोकतांत्रिक विचारों और संस्थाओं में कोई सार्विक औचित्य नहीं था, वरन् उनका केवल इतना ही सापेक्षिक और अस्थायी मूल्य था कि वे पूजीवादी व्यवस्था और शासक मध्यम-वर्ग के हितों के अनुकूल थी। अतः उदारवादी-लोक-तांत्रिक क्रान्ति को ऐतिहासिक प्रक्रिया का अन्तिम सोपान नही माना जा सकता था। इसके विपरीत, पूजीवादी व्यवस्था के एक बार स्थापित हो जाने पर, उसके अन्दर अवश्यमेव शासक मध्यम-वर्ग और वंचित सर्वहारा के हितों के बीच एक नया संघर्ष उत्पन्न होता था, जिसके फलस्वरूप अनिवार्य ही एक और सामाजिक क्रान्ति होगी।

मार्क्स के अनुसार, भावी सामाजिक क्रांति अनिवार्य थी, क्योंकि उसके पहले की सामन्ती व्यवस्था की भाति, पूजीवादी व्यवस्था के अन्दर ही वे दोष विद्यमान थे, जो उसे बदलेंगे—ऐसे दोष जो निजी सम्पत्ति और प्रतियोगी व्यवस्था में अन्त-र्निहित है। मुनाफों के लिए निर्मम प्रतियोगिता के फलस्वरूप अवश्यमेव उन लोगों के हाथ में धन अधिकाधिक केन्द्रित होगा, जो मुनाफों की निर्मम प्रतियोगिता में सर्वाधिक सक्षम साबित होंगे। मजदूर और हारे हुए पूंजीपति इसके फलस्वरूप ऐसे स्तर पर आ जाएंगे जहां वे किसी तरह जिन्दा भर रह

सकेंगे। इस प्रक्रिया के एक विशिष्ट सीमा तक चलने के वाद व्यवस्था इस कारण ही ढह जाएगी कि निम्नस्तरीय सर्वहारा वर्ग वस्तुओं को ऐसे मूल्य पर नही खरीद सकेगा जिसमें मुनाफा हो, और इस कारण वस्तुओ के उत्पादन मे कोई मुनाफा नही होगा। ऐसी स्थिति आ जाने पर सर्वहारा वर्ग, जिसमें अपने कष्टो के फलस्वरूप वर्ग-चेतना आई रहेगी, जो अपने नेताओं द्वारा सामाजिक परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की जानकारी प्राप्त कर चुका होगा, और अपने वर्ग-हितों की रक्षा के लिए एकताबद्ध होगा, क्रांतिकारी कार्यवाही के द्वारा भूमि और पूजी मे निजी सम्पत्ति को समाप्त करेगा, और वर्गविहीन समाज पर आधारित लोकतान्त्रिक शासन के द्वारा सामान्य हित में धन के उत्पादन और वितरण की व्यवस्था करेगा।

पीड़ित मजदूर वर्गों को, जिनकी आशाओ पर उदारवादी लोकतन्त्र की व्यावहारिक सफलता निरन्तर कुठाराघात करती आ रही थी, मार्क्सवाद के सिद्धान्त ने एक नया और प्रभावशाली विचार-दर्शन प्रदान किया। पूंजीवादी व्यवस्था का मार्क्सवादी विश्लेषण मालिको के विरुद्ध मजदूरो की शिकायतो को उचित ठहराता था, और उसका इतिहास-दर्शन विश्वास दिलाता था कि भविष्य मे सब कुछ ठीक हो जाएगा। वह उन्हे आश्वस्त करता था कि अपने वर्ग-हितों की रक्षा करने मे वे असफल नही हो सकते, क्योकि मनुष्य की नियति वनाने वाली अजेय शक्तियाँ उनके पक्ष मे है।

मार्क्सवादी विश्वास से प्रेरित होकर औद्योगिक मजदूरों ने नए राजनैतिक दल बनाए, जो अधिकाश समाजवादी कहे जाते थे और अधिकतर सामाजिक क्रांति के मार्क्सवादी

सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। किन्तु इस बीच मे, आने वाली क्रांति की प्रतीक्षा में, और उसकी तैयारी करते हुए, समाजवादी दलों ने सामाजिक कल्याण के क़ानूनों का एक कार्य-क्रम बनाया जिसका लक्ष्य विशिष्ट वर्गो के विरुद्ध जनसाधारण को लाभ पहुंचाना था। इस व्यावहारिक कार्यक्रम से आकर्षित होकर, निम्न मध्यम वर्ग के लोगों ने, जो अधिकांश हिंसा के विचार को नापसन्द करने वाले भीरु लोग थे, अधिकाधिक संख्या में इस आशा से समाजवादी उम्मीदवारों को अपने मत दिए कि समाजवादी दल क़ानून बनाने के जिस कार्यक्रम का समर्थन करते थे, उससे उन्हें भी लाभ होगा। व्यावहारिक राजनीति की इस प्रवृत्ति का एक फल यह हुआ कि समाज-वादी दलों को मुख्यतः अपना समर्थन ऐसे मतदाताओं से प्राप्त होता था जो मार्क्स को मानने वाले समाजवादी नही थे। दूसरा नतीजा यह था कि गैर-मार्क्सवादी मतदाताओ को अपने पक्ष में करने और रखने के लिए, समाजवादी दलों के नेताओं ने इस बात को आवश्यक पाया कि निकट भविष्य मे होने वाली विप्लवी क्रांति के सिद्धांत पर जोर न दे। अतः पहले महायुद्ध के पूर्व के दशक मे, प्रभावी समाजवादी दलो ने हिंसापूर्ण उथल-पुथल के रूप मे क्राति की धारणा को लगभग त्याग दिया था। क्रांति की अवधारणा अब एक क्रमिक और शांति-पूर्ण प्रक्रिया के रूप में की गई, जिसमें जनता सस्थापित राज-नैतिक पद्धतियों के द्वारा शासन पर नियन्त्रण प्राप्त करेगी, और विद्यमान लोकतान्त्रिक शासन के अन्तर्गत, कानून बनाने की सामान्य कार्यवाही के द्वारा भूमि और पूंजी मे निजी सम्पत्ति को समाप्त कर देगी और धन के उत्पादन तथा वितरण का समाजीकरण करेगी।

महायुद्ध के समय समाजवादी दलों का प्रभाव स्वभावत. कुछ कम हुआ, किन्तु रूस की क्राति ने रूढ़ मार्क्सवादी परम्परा को, जिसे समाजवादी दलों के अन्दर और बाहर अल्पसख्यक समूहों ने बमुश्किल जिन्दा रखा हुआ था, एक नाटकीय और विश्वव्यापी महत्त्व प्रदान कर दिया। लेनिन ने जिस तरह इसकी व्याख्या की, और सोवियत शासन में यह जिस तरह मूर्त हुआ, उस रूप में नए मार्क्सवाद ने साम्यवाद का नाम ग्रहण किया। युद्ध-पूर्व के बर्नहीम और काट्स्की जैसे समाजवादी समाजवाद को जिस रूप मे देखते थे, अथवा नार्मन थामस जैसे वर्तमान समाजवादी जिस रूप मे देखते है, उसमे और साम्यवाद में बडा अन्तर है। समकालीन समाजवाद और नवमार्क्सवादी साम्यवाद मे सहमति केवल एक बात पर है—उत्पादन के साधनो में निजी सम्पत्ति को समाप्त करने की आवश्यकता। इस वाछित लक्ष्य की प्राप्ति के साधनो के सम्बन्ध मे उनमे मौलिक अन्तर है। समाजवाद की मान्यता है कि यह कार्य वर्तमान लोकतात्रिक शासन के ढाचे के अन्दर, शातिपूर्ण राजनैतिक उपयो के द्वारा किया जा सकता है। साम्यवाद की मान्यता है कि हिंसापूर्ण क्राति के द्वारा पूंजीपति वर्ग को धन और शक्ति से वचित करके ही यह काम हो सकता है, और जनता की ओर से अनुशासित साम्यवादी दल की तानाशही ही इसे सम्पन्न कर सकती है।

साम्यवादी सिद्धान्त का एक आवश्यक अंग यह भी था कि एक देश मे साम्यवाद की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी क्राति की भूमिका होगी। अब तक यह भविष्यवाणी पूरी नही हुई है। इटली, जर्मनी, और अन्य कई यूरोपीय देशो में क्रातियां हुई है। किन्तु इन क्रातियो ने फासिस्ट नाम

ग्रहण किया है, और इनके पीछे साम्यवाद के प्रति निष्ठा नही थी, वरन् आंशिक रूप में साम्यवाद का भय था। और, किसी भी सूरत में, साम्यवाद और फ़ासिज्म स्वयं विशेष रूप मे ऐसा मानते रहे है।

जहां तक राजनैतिक सिद्धान्त का सम्बन्ध है, साम्यवाद और फ़ासिज्म में कुछ अन्तर है। सिद्धान्त मे साम्यवाद मानता है कि तानाशाही क्रांति के लिए आवश्यक एक कठोर पद्धति है, लेकिन वह क्रांति के साथ ही समाप्त हो जाएगी, और उसके स्थान पर स्वतंत्र और समान व्यक्तियों का लोकतांत्रिक शासन आ जाएगा। फ़ासिज़्म लोकतान्त्रिक आदर्श को पूर्णतः अस्वीकार करके स्थायी तानाशाही को मानता है। सिद्धांत में साम्यवाद अन्तर्राष्ट्रीय होने का दावा करता है, जबकि फ़ासिज़्म स्पष्ट रूप में जातीय उच्चता और राष्ट्रीय अहं के सिद्धांत को स्वीकार करता है। सिद्धात में साम्यवाद तर्कबुद्धि और विज्ञान के मूल्य को स्वीकार करता है, जबकि फासिज़्म मूलतः बौद्धिकता का विरोधी है, और बुद्धि को सकल्प के अधीन मानता है।

सिद्धांत रूप में यह सब है। किंतु वर्तमान लोकतान्त्रिक समाजों से भी अधिक स्पष्ट रूप में, रूस का सोवियत शासन सिद्धांत और व्यवहार में मेल बिठाने में असफल रहा है। यद्यपि क्राति को समाप्त हुए एक अरसा हो गया, लेकिन वर्ग-विहीन समाज का उदय नही हुआ है। लेनिन के समय की अपेक्षा तानाशाही अब और भी दृढता से स्थापित है, लोक-तांत्रिक शासन की संभावना अब और भी दूर है। स्टालिन का शासन हिटलर के शासन से कम राष्ट्रवादी या अधिक अन्तर्राष्ट्रीय नही है। उसमें मत और शिक्षा का कठोर नियन्त्रण

उतनी ही प्रभावकारी रीति से बुद्धि को तानाशाह की इच्छा के अधीन बनाता है, जितना हिटलर के शासन मे है। जैसा ट्राट्स्की ने कहा, रूस में क्राति के साथ विश्वासघात हुआ। लेकिन यह विश्वासघात मनुष्यो या परिस्थितियो ने उतना नही किया, जितना साम्यवादी सिद्धान्त मे एक तीव्र अन्तर्विरोध के कारण हुआ। साम्यवादी सिद्धान्त मे घोषित तर्कपूर्ण और मानवीय मूल्यो का स्पष्टतः उन साधनो से कोई सम्बन्ध नही है, जिनके द्वारा उनकी उपलब्धि की बात कही जाती है। ये मूल्य भविष्य मे स्थित आदर्श लक्ष्य के रूप मे है, किन्तु अतार्किक और अमानवीय साधनो के अस्थायी प्रयोग के बिना इन्हे उपलब्ध नही किया जा सकता। कम से कम अब तक, लक्ष्य और साधन मे इस मौलिक अन्तर्विरोध का फल यह हुआ है, और मेरा ख्याल है कि किन्ही भी परिस्थितियो मे यही होता, कि लक्ष्य-प्राप्ति के साधनो ने ही लक्ष्य को विफल कर दिया।

साम्यवाद और फासिज्म वास्तव मे जिस तरह काम करते हैं, उनमे यही समानता है कि उनके लक्ष्यो और साधनो मे आधारभूत विरोध है। वे एक ही जैसे साधनो का प्रयोग करते है, और उन साधनों का औचित्य सिद्ध करने में उनकी मान्यताएं एक जैसी हैं। साम्यवादी और फासिस्ट क्रातियाँ एक ही जैसी राजनैतिक पद्धति से, और एक समान खुले बल-प्रयोग के द्वारा की गईं। स्टालिन की वैयक्तिक शक्ति उतनी ही स्वेच्छ और पूर्ण है जितनी मुसोलिनी और हिटलर की, तथा उसका प्रयोग भी उतनी ही निर्ममता से किया जाता है। साम्यवाद और फासिज्म दोनो की ही मान्यता है कि समाज का कल्याण और मनुष्य जाति की प्रगति किसी रहस्यपूर्ण

रीति से एक अमूर्त वस्तु से जुडी हुई है—एक में वह अमूर्त वस्तु इतिहास की द्वन्द्वात्मकता है, दूसरे में सर्वग्राही राज्य। दोनों की ही मान्यता है कि यह अमूर्त वस्तु एक अन्त: प्रेरित नेता के व्यक्तित्व में मूर्त होती है, जिसे सत्य का ज्ञान हुआ है, और जिस पर कार्य-संचालन की जिम्मेदारी है। दोनों की मान्यता है कि राज्य अथवा द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के समक्ष व्यक्ति का महत्त्व केवल एक उपकरण के रूप में है, जिसका उपयोग उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जाए, जिसे नेता उचित समझे, और इस उपयोग में जितनी भी क्रूरता आवश्यक हो बरती जाए। सिद्धान्त में उनकी घोषणा चाहे जो भी हो, व्यवहार में दोनों ही बुद्धि को संकल्प के अधीन मानते हैं, संकल्प के एक उपकरण के रूप में बल को ही अधिकार मानते हैं, सत्य की निरपेक्ष खोज को उसी हद तक मूल्यवान मानते है, जिस हद तक, तात्कालिक राजनैतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए, नेता इसे अस्थायी रूप में उपयोगी समझे।

साम्यवाद और फ़ासिज्म का दावा है कि वे संसार में एक 'नई व्यवस्था' का सैद्धान्तिक निरूपण करते है। लेकिन उनके कार्यों को देखकर पता चलता है कि उनमें केवल पुरानी राजनैतिक पद्धतियां ही पुनर्जीवित हुई हैं, अर्थात् व्यवहार में जिसे निरंकुशता, तानाशाही, पूर्ण राजतत्र आदि कहा जाता है, और सिद्धांत मे दैवी अधिकार। इस रूप में वे एक समान है, और एक समान ही वे उन आधारभूत मूल्यो और मान्यताओ के विरुद्ध है, जिन्हें कायम रखकर ही उदारवादी लोकतंत्र अपनी सार्थकता को कायम रख सकता है।

३

इतिहास की बहुत ही पेचीदा प्रक्रिया निरन्तर सामाजिक समस्याओ को जन्म देती है, और साथ ही उन राजनैतिक और बौद्धिक प्रवृत्तियों को जन्म देती है, जिनसे संकेत मिलता है कि उन समस्याओं का हल किस प्रकार होने की सभावना है। इस प्रसग में 'हल' शब्द का प्रयोग कुछ भ्रामक है। इसमे एक प्रकार की पूर्णता या समाप्ति का आभास मिलता है। किन्तु गणित या रसायन की समस्याओं की तरह सामाजिक सम्बन्धो में कोई तुलनीय अतिम हल संभव नही होता। जे० बी० बरी ने एक जगह कहा है कि "इतिहास का कार्य समस्याओं को हल करना नही है, वरन् उन्हें रूपान्तरित करना है।" हमारे काल में ऐतिहासिक प्रक्रिया ने धन के वितरण की समस्या को जन्म दिया है, जिसका दोहरा रूप है—राष्ट्रो के अन्दर सामाजिक संघर्ष तथा राष्ट्रों के बीच कूटनीतिक और सैनिक संघर्ष। ऐसा समझना सचमुच ही बचपना होगा कि समस्या के किसी भी रूप का किसी उल्लेखनीय सीमा तक अंतिम या पूर्ण 'हल' हो जाएगा। समस्या रूपान्तरित होने के अर्थ मे ही हल होगी। और रूपान्तरण की दिशा खोजते समय हमें न केवल अपनी पसन्द और अपनी आशाओ को देखना होगा, वरन् उन प्रभावी राजनैतिक और वौद्धिक प्रवृत्तियों को भी देखना होगा, जो हमारे काल के इतिहास में व्यक्त हुई है।

उदारवादी लोकतन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद, और फ़ासिज्म, इन शब्दो के अन्तर्गत मैंने इन राजनैतिक और वौद्धिक प्रवृत्तियो को अलग-अलग रखकर उनकी चर्चा की

है। वैचारिक और व्यावहारिक व्यवस्थाओं के रूप मे उनमें जो अन्तर है, वे स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण है। किंतु इन अतरों के पीछे, इस प्रश्न पर हम एक रोचक और महत्त्वपूर्ण समानता देख सकते है कि वे धन के वितरण की समस्या को किस प्रकार हल करना चाहते है, और कर रहे है। यह समानता दिशा की है—ये सभी व्यवस्थाएं, हमारी सहमति से, या उसके बिना ही, हमें आर्थिक उद्यम के शासकीय नियमन के विस्तार की ओर ले जा रही है।

दिशा यही है, इतना स्पष्ट है। पिछले एक सौ वर्षो में, सभी उदारवादी लोकतान्त्रिक देशों में ऐसे नियमन मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। साम्यवाद और समाजवाद दोनो ही उत्पादन के साधनों मे निजी सम्पत्ति को समाप्त करके पूर्ण नियमन स्थापित करना चाहते है, और रूस में साम्यवादी शासन ने ऐसा कर भी लिया है। फासिज़्म भी साम्यवाद के समान ही व्यक्ति को राज्य के अधीन करना चाहता है। मुख्य फ़ासिस्ट देशों में भूमि और पूंजी के निजी स्वामित्व को औपचारिक रीति से समाप्त तो नही किया गया, किन्तु राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को इस हद तक शासकीय निदेशन के अधीन कर दिया गया है, कि स्वतंत्र आर्थिक उद्यम लगभग समाप्त हो गया है। हम इसे पसन्द करे या न करे, एक बहुत ही सुगठित प्राविधिक सभ्यता की पेचीदगियां हमे एक विशेष दिशा मे, अर्थात आर्थिक उद्यम मे व्यक्ति की स्वतंत्रता से हटाकर सामाजिक नियंत्रण की ओर ले जा रही हैं। अत. लोकतान्त्रिक ही नही, अन्य देशों मे भी, धन के वितरण की समस्या का रूपान्तरण इसी दिशा मे होगा।

हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आर्थिक उद्यम

का आवश्यक सामाजिक नियमन लोकतान्त्रिक पद्धति से, अर्थात् बिना मत-स्वातन्त्र्य और राजनैतिक स्वतन्त्रता को समाप्त किए हो सकता है। बिना हिंसा का प्रयोग किए—क्राति और अस्थायी या स्थायी क्राति का सहारा लिए बिना—क्या सम्पन्न लोगो को पर्याप्त सीमा तक वचित किया जा सकता है, और वंचितो को पर्याप्त सीमा तक पुनः सम्पन्न किया जा सकता है ? साम्यवादी कहते हैं, नही—जल्दी या देर से क्राति होगी । फासिस्ट कहते है, नही—सर्वग्राही राज्य समस्या का एकमात्र हल है। हो सकता है कि वे सही हों। ऐसा समझना निरर्थक है कि लोकतन्त्र कायम रहेगा ही, क्योंकि वह प्रकृति के नियम के अनुकूल है, अथवा किसी सर्वोपरि उच्च उद्देश्य की पूर्ति करता है। आधी दुनिया मे तानाशाही के उदय को हम केवल इतना कहकर छोड भी नही सकते, कि यह किन्ही दुष्ट अथवा मानसिक रोगी व्यक्तियो की चतुराई से उत्पन्न एक अस्थायी विकृति है। काफी पीडित होने पर, सामान्य मनुष्यों में आत्म-प्रेरित नेता की ओर देखने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। अतीत की भाँति इस समय भी, जब लोकतन्त्र सामान्य मनुष्यो को उनकी आशाओ और आशकाओ के द्वारा बाँधकर रखने में असफल होता है, तो इसको कीमत सामान्यतः तानाशाही के रूप मे देनी पड़ती है। इस प्रकार, लोकतान्त्रिक संस्थाओं का जीवित रहना शासन के सिद्धातो की तार्किक संगति या आकर्षक स्वरूप पर निर्भर नही है, वरन् इसकी सभावना पर निर्भर है कि व्यावहारिक लोकतान्त्रिक रीतियो से सम्पत्ति तथा अवसर मे इतनी काफी समानता स्थापित हो, जिसे सामान्यजन स्वीकार्य माने।

ऐसा कहा जा सकता है, और बहुधा कहा गया है, कि अतीत की श्रेष्ठतम सभ्यताओं ने जनसाधारण की आवश्यकताओं या इच्छाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था, और यह कि मनुष्य जाति की प्रगति के साथ हम जिन महान् और स्थायी उपलब्धियों को जोड़ते है, उनकी क़ीमत जनसाधारण के उत्पीड़न के रूप में देनी पड़ी थी। यह बात सच हो सकती है, लेकिन अब अप्रासंगिक है। जिस प्राविधिक विकास ने हमारे काल में जनसाधारण के उत्पीड़न को विशिष्ट रूप और तेजी प्रदान की है, उसी ने इस उत्पीड़न को स्वीकार करने की आवश्यकता से जनसाधारण को मुक्त भी कर दिया है। वह समय बीत गया, जब सामान्य मनुष्यों को समझाया जा सकता था कि उनकी कंगाली ईश्वर की इच्छा का फल है, या कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उन्हें उच्च वर्ग की कर्त्तव्य-भावना पर भरोसा करना चाहिए। शिक्षा और विद्यालय, अखबार और रेडियो इनके माध्यम से जनसाधारण में अपने अधिकारों की चेतना आ गई है, इसकी चेतना आ गई है कि उनकी आशाओं को कुंठित करने वाले मनुष्य ही है, और यह कि अपने हितों की रक्षा के लिए संगठित होने की शक्ति उनके अन्दर है। हमारे काल की कोई भी सभ्यता अगर सम्मानपूर्ण जीवन बिताने की जनसाधारण की इच्छा की पूर्ति करने में असफल रहती है, तो जनसाधारण की दृष्टि में वह कायम रखने लायक नहीं रहेगी, और अपनी शक्ति से वे उसे नष्ट कर देंगे, चाहे उससे लाभान्वित होने वालों की, और भविष्य की दृष्टि से वह कितनी भी श्रेष्ठ और उत्तम क्यों न प्रतीत होती हो। लोकतंत्र का अंतिम लक्ष्य एक श्रेष्ठ सभ्यता की स्थापना हो सकता है।

लेकिन उसका तात्कालिक लक्ष्य कुछ नीचे स्तर का यह कार्य है कि वह किसी भी रूप में जीवित रहे। और, उसके जीवित रहने की शर्त यह है कि सभ्यता की जिन सुविधाओ और स्वतत्रताओ से हम परिचित रहे हैं, उनमे से कुछ का वलिदान करके भी, वह जनसाधारण की भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करे।

व्यावहारिक विज्ञान की समस्या के रूप में, जनसाधारण की आवश्यकताओ की पूर्ति के मार्ग मे कोई ऐसी कठिनाइयाँ नही हैं, जिन्हे दूर न किया जा सकता हो—आवश्यक साधन, उपकरण, जनशक्ति, और ज्ञान उपलब्ध है। शासक वर्ग अगर प्लेटो के दार्शनिक राजाओं का हो, और जनसख्या इतनी विनम्र हो कि हर सुझाव को उसी तरह स्वीकार कर ले, जैसे गला हुआ लोहा किसी भी भौतिक दवाव के अनुकूल ढल जाता है, तो पर्याप्त धन का उत्पादन तथा औचित्यपूर्ण वितरण हो सकता है। किन्तु, शायद दुर्भाग्यवश, ऐसे दार्शनिक राजा कही नही हैं। सौभाग्यवश, ऐसे विनम्र लोग भी कही नही है। शासन का कार्य यह जानना उतना नही होता कि क्या करना अच्छा है, जितना विचार और कार्य की रूढ़ आदतों के साथ गहराई से जुडे हुए औसत मनुष्यो को एसे कार्यों के लिए राजी करना, जिन्हे दोषपूर्ण बुद्धि अपूर्ण सामग्री के आधार पर आवश्यक या वाछनीय समझे। लोकतान्त्रिक शासन का कार्य उन्हे इसके लिए राजी करना है कि स्वतत्र रूप मे जो मताधिकार उन्हें प्राप्त है, उसके द्वारा अपनी इच्छा व्यक्त करके, स्वेच्छा से इस काम को करें। अतः लोकतांत्रिक देशों मे धन के अधिक औचित्यपूर्ण बटवारे के लिए उठाए गए कदम केवल सर्वोत्तम उपलब्ध वैज्ञानिक जानकारी पर ही आधारित नही हो सकते।

ये ऐसे ही क़दम हो सकते हैं, जिन्हें बहुसंख्या स्वेच्छा से तय करे, और अल्पसंख्या स्वेछा से स्वीकार कर ले।

जो क़दम उठाए जाएं, उन्हें अल्पसंख्या स्वेच्छा से स्वीकार कर ले, यह उतना ही जरूरी है, जितना यह कि बहुसंख्या स्वेछा से उन्हे तय करे। लोकतांत्रिक शासन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि लोगों की राय लेना बलप्रयोग करने से ज़्यादा अच्छा है। सिद्धान्त अच्छा है, लेकिन दुर्भाग्यवश, मनुष्य किन्ही परिस्थितियों में इसे अच्छा नही समझते। आम तौर पर, यह सिद्धान्त उस समय तक भली भाँति कार्य करता है, जब तक़ निर्णयाधीन प्रश्नों के साथ ऐसे हित जुड़े हुए नही होते, जिनका परित्याग करने की अपेक्षा मनुष्य हमेशा उनके लिए लड़ना पसन्द करते है। आम तौर पर, बहस और बहु-संख्यक मत पर आधारित होने के कारण, लोकतांत्रिक शासन उस समय सर्वोत्तम रीति से कार्य करता है, जब बहस किसी गंभीर महत्त्व के प्रश्न पर नही होती, जब प्रतियोगी दलीय कार्यक्रमों का सम्बन्ध केवल समाज-व्यवस्था की ऊपरी बातों से होता है, उसके आधारभूत गठन से नही। ऐसा होने पर अल्पसंख्या चुनाव की हार को सहज भाव से स्वीकार कर सकती है, क्योंकि निर्णय को घातक या अपने मौलिक हितों का स्थायी परित्याग मानना उसके लिए जरूरी नही होता। जब ये सुखद स्थितियां नहीं रहतीं, तो लोकतांत्रिक शासन हमेशा ख़तरे में पड़ जाता है।

ख़तरा कई देशों मे घातक प्रमाणित हो चुका है। जिन देशों में लोकतांत्रिक परम्परा सर्वाधिक सबल है, वहाँ भी ख़तरा मौजूद है, चाहे वह घातक न सावित हो। इन देशों मे भी धन के वितरण की हठीली समस्या मे ऐसे आधारभूत वर्ग-हितो के

प्रश्न उठने लगे है, जिनके सम्बन्ध में मैत्रीपूर्ण वार्ता और पारस्परिक रियायतें करना आसान नहीं होता। सम्पत्ति तथा अवसर की असमानता के फलस्वरूप, उत्पादन के साधनों में निजी सम्पत्ति से लाभान्वित होने वालों, और जनसामान्य के बीच खाई बढ़ती जाती है, क्योंकि साधारण जनता की वर्तमान परिस्थितियाँ और भविष्य की सम्भावनाए व्यक्तिगत चरित्र और प्रतिभा से अधिक व्यापार-चक्र की आकस्मिक और अनिश्चित घटनाओं पर निर्भर होती है। इस खाई के बढने के साथ-साथ, राजनैतिक दलों की स्थिति मे भी निरन्तर परिवर्तन हो रहा है, यद्यपि उसका रूप हमेशा स्पष्ट नहीं होता—दक्षिण पक्ष मे अनुदारवादी दल जो स्वतंत्र उद्यम व्यवस्था से लाभान्वित होने वालो का प्रतिनिधत्व करते है और वामपक्ष मे आमूल परिवर्तन चाहने वाले दल, जो गरीब और वंचित लोगो का प्रतिनिधित्व करते है। दक्षिण और वाम के बीच अंतर बढने और उनमे कठोरता आने के साथ-साथ यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि नरम, मेल-जोल वाले दल समाप्त हो रहे हैं। दोनों विरोधी पक्षों के दलो के प्रतियोगी कार्यक्रम अब परम्परागत व्यवस्था के अन्तर्गत नीति के सतही पक्षों तक ही सीमित नही है, और उनमे ऐसे प्रश्न अधिकाधिक उठाए जाते है, जो उन मान्यताओं की वैधता को ही चुनौती देते है, जिन पर यह व्यवस्था आधारित है। धन के औचित्यपूर्ण वितरण की समस्या के पीछे यह अधिक मौलिक प्रश्न है कि निजी स्वामित्व की व्यवस्था के अन्तर्गत ऐसा हो भी सकता है या नही। सम्पन्न वर्गो की वर्तमान शक्ति निजी स्वामित्व की व्यवस्था पर आधारित है। जनसाधारण के वर्तमान कष्ट किसी प्रकार उससे जुड़े हुए है। अगर वर्तमान विरोध चलते

रहे और बढ़ते गए, तो इस बात का खतरा है कि जो व्यवस्था उन्हें राहत नही पहुँचाती, उसे स्वीकार करने के बजाय साधारण जनता क्रान्ति की ओर मुड़ जाएगी, और शक्ति-सम्पन्न वर्ग ऐसी व्यवस्था को छोड़ने के बजाय, जिसमें उनकी शक्ति सुरक्षित है, बलात् दमन का समर्थन करेंगे।

यह खतरा उपेक्षणीय नही है। जैसा बहुतेरे लोग समझते है, उससे यह निश्चय ही बहुत बड़ा है। लेकिन इसका यह अर्थ नही कि मताग्रही मान्यताओं के दबाव में आकर हम यह मान लें कि पूंजीवादी व्यवस्था की विषमताएं किसी भी परिस्थिति में लोकतांत्रिक पद्धति से दूर नही हो सकती। साम्यवादी मत का यह भी एक अंश है कि इतिहास में इसका कोई उदाहरण नही मिलता, जिसमें अभिजात शासक वर्ग ने अपनी शक्ति का स्वेच्छा से परित्याग किया हो। अतः निजी स्वामित्व की व्यवस्था पूंजीपति वर्ग को जो शक्ति प्रदान करती है, उससे उसे हिंसापूर्ण क्रातिकारी कार्यवाही के द्वारा ही वञ्चित किया जा सकता है। बहुतेरे प्रगतिशील उदारवादी भी इस तर्क को ज्यों का त्यों स्वीकार करते प्रतीत होते है।

इस तर्क का आधार वाक्य तो सही है, लेकिन निष्कर्ष अप्रमाणित है। यह सच है कि किसी भी शासक वर्ग ने स्वेच्छा से अपनी शक्ति का परित्याग नही किया है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि बल-प्रयोग के दबाव के अतिरिक्त, अन्य किसी कारण से किसी शासक-वर्ग ने अपनी शक्ति का परित्याग नही किया। रोम के अंग्रेजों ने अपने अधिकार, मॉग होने पर, स्वेछा से नही छोड़े। फिर भी, उन्होंने धीरे-धीरे, दबाव पड़ने पर, बिना गणतान्त्रिक व्यवस्था का नाश किए, अपने अधिकार छोड़ दिए। अंग्रेज अभिजात-वर्ग ने अपनी शक्ति का परित्याग

स्वेच्छा से नही किया। किन्तु, अठारहवी शताब्दी से अब तक लोकतांत्रिक राजनैतिक पद्धति के दवाव के फलस्वरूप, वह एक के वाद एक महत्त्वपूर्ण स्थानों से पीछे हटता रहा है। और सचमुच, जिन देशों मे लोकतान्त्रिक सस्थाएं अब भी जीवित है, वहा पिछले पचास वर्पो या कुछ अधिक समय मे पूंजीपति वर्ग ने थोडा-थोडा करके निजी सम्पत्ति पर ऐसा वहुतेरा नियंत्रण छोड दिया है, जो पहले उसके हाथ मे था, और किसी समय अपरिहार्य समझा जाता था। ऐसा मानने का कोई अनिवार्य कारण नही है कि जिन देशो मे लोकतान्त्रिक परम्परा की जडे गहरी जमी हुई है, उनमे आर्थिक उद्यम के वढते हुए शासकीय नियमन की यह प्रक्रिया, विना लोकतान्त्रिक सस्थाओं के विनाश का कारण वने, इस हद तक भी नही चल सकती कि कुछ मूल उद्योगो का अगर औपचारिक नही तो व्यावहारिक रूप मे समाजीकरण कर दिया जाए।

हमारे सामने विकल्प यह नही है कि जो व्यवस्था हमारे पास है उसे कायम रखे, अथवा किसी अप्रयुक्त आदर्श सामाजिक व्यवस्था के लिए उसे खतम कर दे। अधिक से अधिक, प्रश्न अपनी वर्तमान व्यवस्था को इतना काफी सुधारने का है कि हम उन असहनीय कष्टो से वच सकें, जिन्हे अगर दूर न किया गया तो उनका अत निराशा और हिंसा मे होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति का कोई सरल अचूक उपाय नही है। वाछित लक्ष्य की प्राप्ति अगर हो सकती है, तो केवल प्रयोग और भूल-सुधार की पद्धति से कि सर्वोत्तम उपलब्ध ज्ञान का उपयोग जहाँ तक लोकतान्त्रिक राजनैतिक पद्धति मे हो सकता है, किया जाए, ताकि ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जिनमे बेकार पड़ा हुआ धन उत्पादक उद्यम मे लगे, और बेकार मनुष्य

जीवन-निर्वाह योग्य वेतन पर काम में लगें। यह बता सकने की योग्यता मुझमें नही है कि इसके लिए कौन-से विशिष्ट उपाय सर्वोत्तम होंगे। विशिष्ट उपाय सुझाना विशेषज्ञों का काम है। चूंकि विशेषज्ञों में असहमति है, इसलिए कोई भी उपाय चाहे जितनी सावधानी से विचार करके अपनाया जाए, उसके हर हालत में निश्चय ही कुछ अप्रत्याशित परिणाम होंगे, जिनके बारे में कुछ अन्य उपाय करने की जरूरत पड़ेगी। बुराई को दूर करने के प्रयत्नों का पूरी तरह सफल न होना, हार मान लेने का कोई कारण नहीं है। कुछ न कुछ करना जरूरी है, और कुछ थोड़ी-सी उपलब्धि के लिए भी बहुतेरा प्रयत्न करना होगा। मुख्य आवश्यकता है समय की—प्रयोग करने के लिए, गलतियां करने और उन्हें सुधारने के लिए, निहित स्वार्थो में आवश्यक समंजन, और नए विचारों के प्रति आवश्यक मानसिक दृष्टिकोण के विकास के लिए, इसके लिए कि जनमत धीरे-धीरे मूर्त रूप ले, और बोझिल लोकतांत्रिक पद्धति के द्वारा यह जनमत विधायक कार्यवाहियो में व्यक्त हो।

निस्सन्देह, यह सच है कि पर्याप्त समय शायद न हो। संभव है कि पर्याप्त समय शायद किसी भी सूरत में न हो। प्राविधिक विकास ने सामाजिक परिवर्तन की गति इतनी तेज कर दी है, और उसे इतना पेचीदा बना दिया है, कि वर्तमान सामाजिक बुराइयों का ठीक-ठीक पता लगने के पहले ही उनका रूप बहुत बदल जाता है और प्रस्तावित उपाय पर्याप्त नहीं रह जाते। लेकिन समय अगर हमारा साथ नही देता, तो इसका कारण पूजीवादी व्यवस्था या लोकतांत्रिक पद्धति के आन्तरिक दोष उतना नही होंगे, जितना यह कि राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में गड़बड़ी पैदा करने मे और लोकतात्रिक मनोबल को क्षीण

करने मे आधुनिक युद्ध के परिणाम बड़े विनाशकारी है।

४

युद्ध का मूल कारण तो निस्सन्देह मनुष्य की प्रकृति में मिलेगा। किन्तु तात्कालिक कारण देश-काल की विशिष्ट स्थितियो में होते है। राजनैतिक दृष्टि से आधुनिक ससार प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य की आत्म-निर्भरता और आत्म-निर्णय के सिद्धान्त पर संगठित है। आर्थिक दृष्टि से संसार इतना समेकित हो गया है कि सभी देश न्यूनाधिक परस्पर आश्रित है। फलस्वरूप, हमारे काल मे युद्ध मुख्यत. आर्थिक लाभ के लिए प्रतियोगी राजनैतिक संघर्ष से उत्पन्न होता है—भूमि, बाजार, आवश्यक कच्चा माल, और दुनिया के अविकसित क्षेत्रो में लाभ उठाने के विशेष अवसर। इस सघर्ष का बुद्धिपूर्ण हल दो तरह से हो सकता है—सारी दुनिया मे व्यापार और प्रतियोगी औद्योगिक उद्यम की पूरी स्वतंत्रता हो, अथवा विभिन्न देशों की उचित आवश्यकताओ के अनुसार, वस्तुओं और औद्योगिक अवसरों का अन्तर्राष्ट्रीय बंटवारा हो। किन्तु समस्या का बुद्धिपूर्ण हल असंभव है, क्योकि राज्यो के अधिकार उनकी शक्ति से नापे जाते है, और शासनो के निर्णय तथा शासनों का समर्थन करने वाले लोगो के दृष्टिकोण बडी हद तक सम्मान और प्रतिष्ठा के आधार पर, तथा गहरी पैठी हुई राष्ट्रीय आशकाओ और शत्रुताओं से निर्धारित होते है। यह सच है कि अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षो को मैत्रीपूर्ण वार्ता और पारस्परिक रियायतो के द्वारा सुलझाया जा सकता है, और बहुधा ऐसा हुआ भी है। लेकिन यह कार्य अब पहले से अधिक कठिन

हो गया है। प्रचलित सिद्धान्तों के बीच जो गंभीर खाइयाँ है, उनके कारण एक ओर लोकतांत्रिक देशों तथा दूसरी ओर साम्यवादी और फ़ासिस्ट देशों के बीच मैत्रीपूर्ण वार्ता लगभग असंभव हो गई है, और उनके संघर्षों में ऐसी कट्टरता और कठोरता आ गई है जो सोलहवी शताब्दी के धार्मिक युद्धों के बाद से हमारे बीच नही थी। इस प्रकार, विरोधी विचार-व्यवस्थाओं के टकराव से उत्पन्नि भय और घृणा के फलस्वरूप आर्थिक संघर्ष से उत्पन्न होने वाले युद्ध का सनातन खतरा बढ़ गया है, और उसे दूर करना अधिक कठिन हो गया है।

युद्ध और युद्ध की तात्कालिक आशंका से किसी देश मे सामाजिक संघर्ष का कुछ समय के लिए दव जाना संभव है, लेकिन इसका अतिम परिणाम यह हो सकता है कि लोकतांत्रिक पद्धति से सामाजिक संघर्ष को समाप्त करने की संभावना घटे। अपने सर्वोत्तम रूप में भी, राजनैतिक लोकतन्त्र समाज के कार्य-संचालन की एक धीमी और बोझिल पद्धति है। गंभीर संकट के काल में यह आवश्यक होता है कि काम अच्छी तरह हो या न हो, लेकिन जल्दी हो। और युद्ध के गंभीरतम संकट के समय, जब कानून चुप रहता है, और हथियार बोलते है, लोकतांत्रिक स्वतन्त्रता अनिवार्य ही सैनिक कार्यक्षमता के अधीन हो जाती है। फिर भी, सर्वाधिक महत्त्व लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता के अस्थायी ह्रास का नही होता। महत्त्व मुख्यतः इस बात का है कि राष्ट्र की शक्तियों को विध्वंसात्मक कार्यों में लगाकर, युद्ध शातिकालीन अर्थ-व्यवस्था तो भंग कर देता है, लोगो को गरीब और मनोबल से हीन बनाता है, और इस प्रकार उस सामाजिक संघर्ष को तेज करता है, जो लोकतांत्रिक संस्थाओं के स्थायित्व पर आघात करता है।

सितम्बर १९३९ में, युद्ध की तात्कालिक आशंका के स्थान पर स्वयं युद्ध ही आ गया। इस युद्ध को लोकतंत्र की रक्षा और यूरोप में समाज-व्यवस्था की पुनः-स्थापना का युद्ध कहकर इसे उचित ठहराया जाता है। पिछले युद्ध को भी इसी प्रकार उचित ठहराया गया था। हमे वताया गया था, और हममे से बहुतों ने इस पर पूरी तरह विश्वास भी कर लिया था, कि वह युद्ध संसार में लोकतंत्र को सुरक्षित करने के लिए लडा गया था। अव हम जानते है कि उसका एक वडा नतीजा यह निकला कि आधा यूरोप तानाशाहो के लिए सुरक्षित हो गया। कोई नही कह सकता कि वर्तमान युद्ध का क्या नतीजा निकलेगा। लेकिन यह समझना निश्चय ही बचपना होगा कि सारी दुनिया मे, अथवा लोकतान्त्रिक संस्थाएं जिन देशो मे आज विद्यमान है उनमे भी, उन्हे बल प्रदान करने में इसका योग पिछले युद्ध से अधिक होगा। इसके विपरीत, अगर अनुभव से सकेत ग्रहण करे, तो हमे मानना होगा कि पिछले युद्ध की भांति यह युद्ध भी उन आर्थिक और सामाजिक संघर्षों को गहरा करेगा, जो अब तक भी कई देशो में लोकतांत्रिक जीवन-पद्धति के लिए घातक साबित हुए है।

इसका यह अर्थ नही कि युद्ध से हमेशा बचा जा सकता है, या बचना चाहिए। अगर लोकतांत्रिक सस्थाओं को युद्ध के द्वारा सुरक्षित नही किया जा सकता, तो उन्हे नष्ट करने के उद्देश्य से किए गए आक्रमणो के आगे समर्पण कर देने से तो उनसे बचने की सभावना और भी नही रहेगी। यह सच नही है कि किसी भी झगडे मे दो पक्ष होते है। अगर दृष्टिकोण विकृत हो, तो कोई भी आदमी वडी आसानी से झगड़ा कर सकता है। व्यक्ति अथवा शासन, कोई भी, जान-बूझकर निरन्तर

आक्रमण के द्वारा युद्ध को अनिवार्य बना सकता है। सितम्बर १९३९ में फ्रांस और इंगलिस्तान के सामने विकल्प युद्ध और शांति के बीच नहीं था। उनके सामने सवाल था कि वे उस समय युद्ध करें, अथवा आक्रमण को स्वीकार कर लें, जबकि उनके लिए यह सोचने का पूरा कारण था कि इन आक्रमणों के बाद और भी आक्रमण होंगे। अतः, अन्तोगत्वा, इस समय न लड़ने पर उनके सामने विकल्प यही होता कि या तो बिना लड़े समर्पण कर दें, या अधिक प्रतिकूल परिस्थितियों में लड़ें। ऐसी स्थिति में, मेरी राय में सही नतीजा यह निकलता है कि लोकतांत्रिक विचार का खंडन होने के कारण युद्ध अपने-आप में लोकतांत्रिक संस्थाओं की रक्षा में कोई योग नहीं दे सकता, किन्तु यह संभव है कि जिन देशों मे लोकतांत्रिक संस्थाएँ मौजूद हों, उनकी स्वतंत्रता की रक्षा करने का एकमात्र उपाय युद्ध ही हो। लोकतांत्रिक संस्थाओं को कायम रखने की अनिवार्य शर्त उन लोगों की राजनैतिक स्वतंत्रता है, जो उन्हें कायम रखना चाहते है। अतः, अगर और किसी अर्थ में नही तो कम से कम इस अर्थ में युद्ध लोकतंत्र की रक्षा का साधन हो सकता है। युद्ध न हुआ होता, वैसी स्थिति की तुलना में संभव है कि वर्तमान युद्ध के बाद यूरोप मे लोकतांत्रिक सस्थाओं के कायम रहने की संभावना कम हो। लेकिन जर्मनी के वर्तमान नाजी शासन के अधीन यूरोप की तुलना मे यह सम्भावना ऐसे यूरोप में फिर भी अधिक होगी, जिसमें फ्रांस और इगलिस्तान की स्वतत्रता बनी रहे। यह सम्भव है कि इंगलिस्तान के युद्ध में विजयी होने पर भी, युद्ध के फलस्वरूप इंगलिस्तान में लोक-तांत्रिक संस्थाएं नष्ट हो जाएं। लेकिन अगर जर्मनी की विजय होती है, तो वे निश्चय ही नष्ट हो जाएंगी। अतः,

अगर किसी भी सूरत मे लोकतान्त्रिक सस्थाओं का नाश होना ही है, तो सब मिलाकर यह ज्यादा अच्छा होगा कि यह नाश शत्रुओं के वजाय मित्रो के ही हाथों हो।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनो ही दृष्टिकोणो से, जव हम लोकतान्त्रिक संस्थाओ को कायम रखने की समस्या पर विचार करते है, तो हम अपने को एक दुश्चक्र में फँसा हुआ, लाचार पाते है। हम जानते हैं कि राष्ट्रो के अन्दर सामाजिक विरोधों से, और उससे भी अधिक राष्ट्रों के वीच युद्ध से लोक-तांत्रिक संस्थाओ को खतरा है। हम जानते है कि अगर हम युद्ध से बच सकें तो अपने सामाजिक विरोधों को दूर करना ज्यादा आसान होगा, और अगर हम अपने सामाजिक विरोधों को दूर कर सकें, तो युद्ध से वचना कही ज्यादा आसान होगा। अगर हम इनमे से कोई एक काम भी कर सके, तो लोकतंत्र का भविष्य वहुत-कुछ सुरक्षित हो जाएगा। अगर दोनो कर सके, तो पूर्णतः सुरक्षित हो जाएगा। किन्तु हम यह भी जानते है कि सामाजिक विरोध युद्ध का एक वड़ा कारण है, और अगर सामाजिक विरोधों को दूर करने के काम को कोई चीज असम्भव बना सकती है तो वह युद्ध है। ऐसी ही स्थितियो में बुद्धि बल के आगे झुक जाती है, ऐसी ही स्थितियों मे तानाशाह पनपते हैं, और लोकतंत्र का ह्रास होता है।

यह सम्भव है कि आधुनिक विश्व के सामने जो सकट है, उसमें लोकतांत्रिक संस्थाओं की समाप्ति से भी अधिक गंभीर प्रश्न जुड़े हुए हैं। सम्भव है कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्विरोध केवल एक अधिक गभीर असगति के प्रतीक मात्र हों—वह असगति जो हमें उपलब्ध भौतिक शक्ति, और उसका सदुपयोग करने की हमारी क्षमता के बीच है। किसी भी

सूरत में, यह स्पष्ट है कि पिछली दो शताब्दियों का इतिहास हमारे सामने एक चिन्ताजनक विरोधाभास प्रस्तुत करता है—भौतिक जगत पर नियंत्रण प्राप्त करने की दिशा में बुद्धि का प्रयोग अप्रत्याशित सफलता और बढ़ते हुए आशावाद के साथ होता रहा है, किन्तु मानवीय सम्बन्धों के जगत को मानवीयता और तर्क-बुद्धि के अनुसार निरूपित करने के लिए किए गए निरन्तर प्रयत्नों में अब तक इतनी असफलता मिली है कि हम निराशा और पराजय की भावना से ग्रस्त हो गए हैं।

यह बात बहुत पहले कही गई थी कि मनुष्य के लिए आत्मानुशासन की अपेक्षा किसी नगर को जीत लेना ज़्यादा आसान होता है। यह बात आज जितनी सच है, उतनी पहले कभी नहीं थी। पहले कभी भी मनुष्य की बुद्धि ने उसे इतनी अधिक भौतिक शक्ति प्रदान नही की। पहले कभी भी उसने अपनी उपलब्ध शक्ति का प्रयोग इतने भिन्न और परस्पर विरोधी उद्देश्यों के लिए नहीं किया। मनुष्य का हाथ जिस चीज़ को लेकर काम करता है, उसके अधीन होता है, और हाथ जो कुछ कर लेता है, मन उसकी प्रशंसा करता है। अतः आधुनिक मनुष्य यांत्रिक शक्ति से चमत्कृत हो गया है। जो उपकरण उसने बनाए है, उनकी विशाल शक्ति से और उनके यथातथ्य कार्य के सौन्दर्य से मुग्ध होकर, वह उनका प्रयोग हर ऐसे कार्य के लिए करता है, जो उनकी सहायता से किया जा सके, और उसके मन में यह विश्वास रहता है कि जो काम इतनी सफ़ाई और कौशल से किया जा सकता है, वह अवश्य ही करने लायक होगा। इस प्रकार हम अपनी ही बनाई हुई मशीनों के गुलाम हो जाते है। वे हमें बाध्य करती हैं कि हम उनकी ही शर्तो पर उनका प्रयोग करें, अपने आचरण

को उनके गुणों और उनकी सीमाओं के अनुसार ढाले, और इस तरह वे किसी प्रकार ऐसी सामाजिक शक्तियो को जन्म देती है जो इतनी उलझी हुई और इतनी अमूर्त होती है कि उन्हें आसानी से समझा नही जा सकता, और जो हमारी जिन्दगियो को ऐसे लक्ष्यों के अनुरूप ढालती है, जिनकी हमें इच्छा नही होती, लेकिन जिनसे हम बच नही सकते।

अतीत मे ऐसा हुआ है, कि कुछ सभ्यताएं जो बहुत दिनों से चली आ रही थी, समृद्ध और प्रतिभाशाली थी, और दुर्घटनाओं से पूर्णतः सुरक्षित प्रतीत होती थी, धीरे-धीरे सड़कर या तो लुप्त हो गई, या उनका रूप बिलकुल वदल गया, और वे विस्मृत हो गईं। मनुष्य-जाति के इतिहास में जो कुछ पहले कई बार हो चुका है, वह आगे भी हो सकता है। अब हमारी सीमाओ के बाहर कोई बर्बर झुंड तो नही है, लेकिन सीमाओं के अन्दर ऐसे बहुतेरे तत्त्व है जिनके बर्बर बन जाने की संभावना है। अत. यह बात असंभव नही है कि मनुष्य को उपलब्ध यांत्रिक शक्ति, और उसका सदुपयोग कर सकने की मनुष्य की क्षमता के बीच जो गंभीर असगति है, वह फिर से विश्व को व्यापक और गभीर अव्यवस्था की ऐसी अवधि में ले जा रही हो, जिसमें लोकतंत्र हर जगह तानाशाही से परास्त होगा, तर्कबुद्धि पशुबल से परास्त होगी, और पशुबल बर्बरता के एक और अंधेरे युग की भूमिका तैयार करेगा।

मैं नही कहता कि यह सब होगा ही। मैं नही समझता कि ऐसा होगा। लेकिन यह सोचना व्यर्थ है कि ऐसा नही हो सकता। इस पर भरोसा करना व्यर्थ है कि कोई सर्वोपरि वर्द्धमान उद्देश्य (प्रकृति का कोई नियम, इतिहास की द्वन्द्वात्मकता या सर्वग्राही राज्य) हमारी सीमाओं के बावजूद

हमें एक पूर्वनिश्चित शुभ लक्ष्य पर पहुँचा देगा। अपनी कठिनाइयों को हल करने के लिए, हमारे पास केवल हमारे अपने उद्देश्य ही है, हमारी अपनी बुद्धि ही है। अतः अगर लोकतंत्र कायम रहता है, अगर सभ्यता किसी स्वीकार्य रूप मे कायम रहती है, तो यह इसी तरह होगा कि दुनिया के कुछ अनुकूल स्थिति वाले हिस्सों मे मनुष्य का मन मुक्त रहे, और समय तथा सौभाग्यपूर्ण परिस्थितियों की सहायता से इस योग्य प्रमाणित हो कि जो अभूतपूर्व भौतिक शक्ति उसे उपलब्ध है, उसका उपयोग तर्कसंगत और मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए करे। पास्कल के प्रसिद्ध सूत्र का सत्य आज सत्रहवी शताब्दी से भी अधिक स्पष्ट है : "विचार से ही मनुष्य की पूर्ण गरिमा निर्मित होती है। अत. भली भांति विचार करने की चेष्टा करें, यही एकमात्र नैतिकता है।"

लोकतत्र का मुख्य गुण यही है, और दीर्घकालिक दृष्टि से उसे कायम रखने का एकमात्र औचित्य यही है कि वह अपने सारे दोषों के बावजूद उस गरिमा को क़ायम रखने और उस नैतिकता पर आचरण करने के लिए हमे सर्वाधिक अनुकूल परिस्थितियाँ प्रदान करता है।